स्वर्गस्थ

"वप्पा"

की

पावन स्मृति

में

सादर

समर्पित

अर्थविज्ञान

विषय-सूची

का आरोप दूसरी पर ; निर्जीवों को सजीवों के नाम दिए जाते हैं ; ज्ञान स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है, इसके उदाहरण ; अशुभसूचक बातें गोल मोल शब्दों में व्यक्त की जाती हैं ; कुछ बातों का उल्लेख असभ्य ; अप्रिय बात को घुमा फिराकर कहने का रवाज ; स्त्री के अंगों का उल्लेख असभ्य ; संसर्ग से नाम ; धनित्व और सज्जनता ; देशवाचक और कालवाचक शब्दों की एकरूपता ; शक्ति और उग्रता तथा सिधाई मूर्खता और कमज़ोरी का साहचर्य ; कभी-कभी संकेतित अर्थ से ठीक उल्टे अर्थ को जतलानेवाले शब्द का प्रयोग ; ज्ञान की सूक्ष्मता के अनुपात से अर्थ की अनिश्चयरूपता ; अर्थ-परिवर्तन के साथ समूह के सभी शब्दों का अर्थ-परिवर्तन या एक ही का ; अर्थ-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन की समता।

तीन धाराएँ—अर्थविस्तार, अर्थसंकोच और अर्थादेश ; इन धाराओं का कारण ; शब्द द्वारा द्योतित सारा भाव हमारी बुद्धि में व्यक्तरूप से नहीं रहता कोई मुख्य अंश रहता है ; इस बात का फिर स्पष्टीकरण; तैल शब्द का उदाहरण ; कल्यं >कल शब्द ; **गोसाईं ; गंगा** ; अर्थविस्तार की परिस्थिति ; अर्थविस्तार के उदाहरण ; **अँधेरा, उजाला, अक्ल, अनुकूल-प्रतिकूल, आँच, आँचल, इंद्रजाल, उत्तर, और, कटहरा, करु, कसना, कन्धा, काग़ज़ी, कांचन–लोहा, कीट, खरा-खोटा, गाँठना, गाँसना, गाता, गुहार, घुन, चकला, चपरा, गोष्ठम्, गोयुगम्**; अर्थसंकोच के उदाहरण, **रदन, नेत्र, सर्प, चटनी, मिठाई, अकाल, अच्छत, अखाड़ा, अग्निसंस्कार, अग्निचर्या, अजहूँ, अधर, अन्नप्राशन, अलच्छण, अलाप, आँव, आलू,**

की अभिव्यंजना के मूल में—१. सम्पूर्ण के लिए एक भाग, २. आधार-आधेय, ३. ग्रन्थकार-कृति, ४. लक्षण-लक्ष्य, ५. स्थान-स्थानीय, ६. वचनव्यत्यय, ७. कारण-कार्य ; आवाज पर शब्दसृष्टि : उपन्यास, कादम्बरी, नकशा ; नव-भाव-व्यक्तीकरण के लिए नव-शब्द-सृष्टि के मूल में या तो पूर्व उपस्थित कोई ध्वनि-समूह घटा-बढ़ाकर या नया ध्वनि-समूह, ऐसा प्रथम प्रयोग किसी व्यक्ति द्वारा ; त्यागे हुए भावों के द्योतक शब्द भाषा से निकल जाते हैं : वर्तमान भावों के द्योतक पुराने शब्द मिटते और नए उनकी जगह लेते रहते हैं ; इसके कारण की खोज : निरुक्तकार के प्रश्न का उत्तर : पर्यायवाची शब्द का लक्षण : पर्यायों में अर्थ की पूर्ण या आंशिक समानता ; पर्यायों का उद्गम : पर्यायों का कारण बोली-भेद और संस्कृति-भेद : एक ही स्रोत से आए हुए शब्दों में अर्थ-भेद ; लिंग-भेद से अर्थ-भेद ; संस्कृति-भेद से अर्थ-भेद के उदाहरण ; तत्सम, तद्भव में अर्थ-भेद ; विदेशी शब्द अधिक आदरसूचक ; अर्थ-भेद लाने का उपाय ; भृशत्व का द्योतन ; अनेकार्थी शब्द दो प्रकार के ; व्याकरण से अनेकार्थ के उदाहरण ; अनेकार्थता प्रसंग की अनेकता से आती है।

भाषा सम्पूर्ण भाव के प्रकट करने में असमर्थ, इस अपूर्ति को दूर करने में मुख्य सहायक अलंकार; आदिम भाषा और अपढ़ जनता की भाषा दोनों में अलंकार मौजूद मिलता है; अर्थालंकारों के मूल में भाषा का अतिशय और औपम्य ; मुहाविरों के मूल में भी बहुधा सादृश्य ; 'अधिक प्रचलित क्रियापदों पर मुहाविरे बन जाते हैं; मुहाविरों के अन्य रूप—गुण से गुणी, भाव से द्रव्य ; संस्कृत के उपसर्गों से मुहाविरे, समास का मूल मुहाविरा; संयुक्त

———

ओ३म्।

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये। स चेत्ता देवतापदम्।

ऋ० १।२२।५.

१. अर्थ का शब्द से सम्बन्ध

इन व्याख्यानों का विषय है—'अर्थ-विज्ञान'। 'अर्थ' के भी कई अर्थ होते हैं। आजकल देश की ग़रीबी के ज़माने में पहला विचार अर्थ से धन-दौलत का हो सकता है और आप लोगों में से शायद कोई यह समझते हों कि मैं धन-दौलत के सम्बन्ध की कोई बात बताऊँगा, ऐसे श्रोताओं को निराश होना होगा। यहाँ पर मैं उस अर्थ के बारे में कुछ कहने खड़ा हुआ हूँ जिसका शब्द से सम्बन्ध है। 'शब्द' के भी कई अर्थ हो सकते हैं, सिंह का दहाड़ना शब्द है, घोड़े का हिनहिनाना भी शब्द है, और साथ ही नदी का नद-नद और सरिता की कलकल तथा भौंरों का गुंजन भी शब्द है। मैं इन सब शब्दों को दूर रखकर मनुष्यकृत शब्द की ही चर्चा करूँगा। इसी मनुष्यकृत शब्द के ही अर्थ से इन व्याख्यानों का सम्बन्ध है।

शब्द की संसार के सभी धर्मग्रन्थों में बड़ी महिमा गाई गई है। शब्द ब्रह्म है। बृहदारण्यक का वचन है—

वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म।

वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द में ऐसी शक्ति है जो इस सारे विश्व को जकड़े हुए है—

शब्देष्वाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी ।

आचार्य दंडी का दावा है कि अगर शब्दरूपी ज्योति इस संसार में न चमकती तो ये तीनों भुवन अँधेरे ही रहते—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ का० १. ४.

सामी सम्प्रदाय में भी शब्द का माहात्म्य भारी है। परमेश्वर ने वचन निकाला और सृष्टि बन गई। इसी का उल्लेख जायसी ने पद्मावत में किया है—

वचन हुते उपजेउ संसारा ।

इस शब्द या वचन का एक चौथाई हिस्सा ही मनुष्य के व्यवहार में आया है। ऋग्वेद की सूक्ति है कि वाणी चार भागों में परिमित है, उनको ब्रह्मदर्शी ब्राह्मण ही जानते हैं, इनमें से तीन भीतर गुहा में छिपे हुए हैं, केवल चौथे को मनुष्य बोलते हैं—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
१. १६४. ४५.

और इस चौथाई के कारण मनुष्य की मनुष्यता है। यही मनुष्य का ऐसा गुण है जिससे वह अन्य जीव-जन्तुओं से बढ़कर ठहरता है। तभी आदमी को हैवान मुतलक़ न कहकर हैवान नातिक़ कहते हैं।

जिस शब्द की इतनी महिमा है वह जरूर धन-दौलत से बेहतर है। धन तो आदमी आदमी में अन्तर लाता है। एक अमीर है, दूसरा ग़रीब। पर यह शब्द हमारा, मनुष्यों का, दूसरे जीव-

जन्तुओं, पशु-पक्षियों से भेदक है। इसी से हम मनुष्य हैं। ऐसी क़ीमती चीज़ की हमें अवहेलना नहीं करनी चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् बताता है कि पुरुष का सार वाणी है—

पुरुषस्य वाग्रसो (वाच ऋग्रसः)।

इस शब्दरूपी वाणी की सेवा से मनुष्य को दैनिक व्यवहार का लाभ है। साथ ही साथ यदि हमें श्रुति में विश्वास हो और हम इसको ब्रह्म मानकर उपासना करें तो हमें अलौकिक शक्ति मिल सकती है—

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचोगतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति। छां० उ०

शब्द अनन्त है। इसका वारपार कोई नहीं पा सका। महाभाष्य में पतंजलि बताते हैं कि देवताओं के गुरु बृहस्पति महाराज ने हजार साल तक—और वह भी हजार वर्ष मनुष्यों के नहीं, देवों के—इन्द्र को शब्दों का पारायण कराया, पर अन्त तक न पहुँच पाए—

एवं हि श्रूयते। बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष-
सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द पारा-
यणं प्रोवाच नान्तं जगाम।

दुर्ग भी शब्द की इस अनन्त स्थिति का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि भाष्यकार और मैं दोनों ही तीक्ष्ण बुद्धिवाले हैं; किन्तु शब्द-रूपी सागर के पार न पहुँच पाए, फिर औरों की क्या बात—

अहं च भाष्यकारश्च कुशाग्रैकधियावुभौ।
नैव शब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये लघुबुद्धयः॥

इस मानुषी शब्द का प्रतीक है गर्भ अथवा ज्ञान। यह भीतर रहता है, यही अपने रूप को व्यक्त करने के लिए शब्द में परिणत होता है। वाक्यपदीय में कहा है—

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥

हमारा सोचना-विचारना सभी शब्द के द्वारा होता है। बाल्यकाल में हम इस सूक्ष्म वाणी और उच्चरित वाणी को अलग-अलग नहीं कर पाते। इसी लिए छोटे बच्चे या तो बोलते रहते हैं, या सो जाते हैं। कभी-कभी माँ-बाप उनसे खीजकर डाट देते हैं कि चुप रहो। तब बच्चा या तो रोने लगता है या अन्यत्र जाकर अकेले ही में किसी खेल में लग जाता है और जो विचार या भाव उसके मन में उठते हैं, उनको अकेला बैठा-बैठा व्यक्त करता रहता है। जैसा-जैसा उसकी बुद्धि और मन का विकास होता जाता है, उसी के अनुकूल वह जल्दी या देर में इस सूक्ष्मवाणी या अन्तर्ज्ञान को बोलों से बिलगाने में समर्थ हो जाता है। आप स्वयं इस बात की कोशिश करें कि बिना वाणी की मदद के सोचें विचारें, तो आपको अनुभव हो जायगा कि आप ऐसा करने में बिलकुल असमर्थ हैं। हद भर कोशिश करने पर आप या तो निद्रावस्था में या योगनिद्रा में पहुँच जायँगे। इसी लिए वाक्यपदीय में कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

बृहदारण्यक का वचन है—

स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्।

इसी मन और वाणी की जोड़ी का संकेत ऐतरेय उपनिषद् के इस वाक्य में है—

वाक् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् ।

ये दोनों ऐसे जुड़े हुए हैं कि इनको अलग कर देना असंभव है। इसी लिए कविकुलगुरु कालिदास ने शिव और पार्वती की उपमा के लिए वाणी और अर्थ को चुना—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

शब्द और अर्थ की जोड़ी में से कौन प्रधान है और कौन अप्रधान, इसको निश्चित करना बड़ा कठिन है। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर है। यदि हम कहें कि विचार उच्चरित वाणी के विना संभव है तो यह कहना ऊपर से तो ठीक लगता है, पर सूक्ष्म रीति से ग़ौर करने पर समझ में आता है कि यह विचार, उच्चरित शब्द के भीतरी रूप, सूक्ष्मवाक्, के ही द्वारा संभव हुआ है। दूसरी ओर छोटे-छोटे बच्चे जब क़ुरानशरीफ़ की आयतें या स्मृतियों के श्लोक पढ़कर सुनाते हैं, तब क्या वे उनका अर्थ जानते हैं? अथवा जब पागल आदमी अनर्गल बातें बकता है तब क्या वह उनका वास्तविक अर्थ समझता है? इससे यह मालूम पड़ता है कि अर्थ के विना भी शब्द का अस्तित्व संभव है। पर सूक्ष्म विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल नक़ल है, असल नहीं। उसी तरह की नक़ल, जैसी मैना और तोते बनाते हैं। यदि तोता 'सीताराम' या 'राधेश्याम' कहता है और अर्थ नहीं समझता तो इसका यह मतलब नहीं कि इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं, फिर तो सारे विदेशी शब्द निरर्थक सिद्ध हो जाते।

ऐसी हालत में हम यही कह सकते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे या पागल जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, उनका अर्थ है, पर वे उस अर्थ को नहीं समझते-बूझते ।

शब्द और अर्थ, अश्विनीकुमारों की तरह, जुड़े हुए हैं, तब भी दार्शनिकों का विचार है कि शब्द की उत्पत्ति अर्थ अथवा मनस् से होती है । शायद उत्पत्ति शब्द की जगह प्रादुर्भाव कहना ठीक होगा, क्योंकि शब्द वहाँ था ही, केवल वह हमारे अनुभव में नहीं था । इसी लिए जब छान्दोग्य उपनिषद् कहता है कि—

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते ।

तब उसका मतलब यही समझना चाहिए कि मरणासन्न मनुष्य की वाणी, सूक्ष्मवाणी रूपी मन में लीन हो जाती है, और इसके बाद वह विशिष्ट मन अवशिष्ट मन में । वाक्यपदीय का वचन है—

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ ।

अर्थात् शब्द और अर्थ एक ही आत्मा (चीज) के दो भाग हैं और दोनों का अस्तित्व साथ-साथ है, अलग-अलग नहीं । वाक्यपदीय की नीचे लिखी कारिका से मालूम पड़ता है कि शब्द ही प्रधान है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

अर्थात् शब्दतत्त्व ब्रह्म है, यह अनादि और अनन्त है, यह नाशशील नहीं । यही तत्त्व अर्थ के रूप में भिन्न-भिन्न शक्लों में दिखाई पड़ता है जिससे संसार के तरह-तरह के काम चलते हैं । इसी बात का अनुमोदन न्यायसूत्र पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन इन शब्दों में करते हैं-

यावदर्थं वै नामधेयशब्दाः, तैरर्थसंप्रत्ययः, अर्थसंप्रत्ययाच्च व्यवहारः।

परन्तु इस शब्द-तत्त्व में अर्थ समाविष्ट है, उससे अलग नहीं। केवल व्यवहार में उनका अलग-अलग होना दिखाई पड़ना है, इसी लिए कहा है—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम्॥

शब्द और अर्थ की पृथक् स्थिति नहीं है, यह सिद्धान्त स्पष्ट है, परन्तु शब्द का प्रयोग अर्थ जतलाने के लिए होता है। महाभाष्यकार कहते हैं—

अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं सम्प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते।

यानी शब्द का प्रयोग अर्थ बताने के प्रयोजन से होता है। हर आदमी 'अर्थ का बोध कराऊँगा' इसी अभिप्राय से शब्दों को काम में लाता है। यह आवश्यक नहीं कि यह अर्थ का बोध दूसरे को ही कराया जाय। अपने को ही बोध कराने के लिए भी कभी-कभी हम शब्द को इस्तेमाल करते हैं। प्रातःकाल उठकर जब हम वेदमन्त्रों या स्मृतिवचनों का ऊँचे स्वर से या गुन-गुनाकर उच्चारण करते हैं, तब आत्मबोध के ही लिए। महाभाष्य के वचन का अनुमोदन तन्त्रवार्तिक के इन शब्दों में मिलता है—

सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रत्ययनार्थं प्रयुज्यते।

शब्द की इस प्रयोगरूपी स्थिति को ही लक्ष्य करके दुर्ग ने कहा है कि अर्थ प्रधान है और शब्द गौण—

अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः ।

बच्चों के विकास की ओर यदि हम ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि आरम्भ में जब बच्चा रोता है तो स्वाभाविक रूप से, या तो प्रकृति जब उसके फेफड़ों से व्यायाम कराना चाहती है या जब उसे कोई तकलीफ़ होती है तब प्रतिक्रिया रूप से रोने का शब्द निकलता है। लेकिन जल्दी ही इसी क्रिया को वह अपनी इच्छाओं का बोध कराने के लिए इस्तेमाल करने लगता है। जब उसे माँ के दूध की या गोद की ज़रूरत होती है तब वह इस रोने का प्रयोग करके उन इच्छाओं को प्रकट करता है। यह तभी संभव होता है जब उसके रोने की आवाज़ पर माँ या तो गोद में लेकर पुचकारने लगती है या अपनी छाती उसके मुँह में दे देती है। इस तरह वह रोने के शब्द का प्रयोग करता है। जैसे बच्चा अपने रोने के शब्द का प्रयोग सीखता है, इसी तरह और बड़ा होने पर वह दूसरों के शब्दों को इस्तेमाल करना सीख जाता है। इसका विवेचन साहित्य-शास्त्रियों ने शब्द की अभिधा-शक्ति को समझाते हुए बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

"जब एक आदमी दूसरे आदमी से कहता है कि 'गाय लाओ' और दूसरा आदमी गाय ले आता है; इसके बाद 'गाय ले जाओ, घोड़ा लाओ' यह आज्ञा पाने पर वह गाय को ले जाता है और घोड़ा ले आता है, तब बच्चा इस लाने और ले जाने की क्रिया को समझकर और गाय और घोड़े को देखकर, यह समझ लेता है कि इन **'गाय, घोड़ा, लाना, ले जाना'** शब्दों का क्या अर्थ है।"

वह अर्थ पहले समझता है, उच्चारण बाद को करता है। उसमें शब्दों को समझने की अनुपम शक्ति होती है, इसी को वैयाकरण

प्रतिभा कहते हैं। यह प्रतिभा बड़ों के व्यवहार और शब्दप्रयोग को देखकर जगती है और उनके उपदेश से भी जगती है। मां-बाप भाई-बहिन, बच्चे को बताते भी हैं। बच्चा यह फूल है, यह चाचा हैं, यह कौवा है, इत्यादि वाक्यों द्वारा और उँगली से उनकी ओर संकेत के द्वारा बच्चों को बराबर उपदेश मिलता रहता है। बच्चे उससे उन शब्दों के अर्थों को समझ लेते हैं, तत्काल वे उनको बोल नहीं पाते। इस प्रकार जो कहा जाता है उसकी अर्थ-गति तत्सम्बन्धी शब्दों के उच्चारण की सामर्थ्य से पहले ही उपस्थित हो जाती है और कभी-कभी उच्चारण की शक्ति काफ़ी समय के बाद आती है। साल भर के बच्चे विष्णु से जब कहा गया कि जाओ हरी को बुला लाओ, तो पहले वह पास खड़े चुन्नू को बाहर जाकर हरी को बुला लाने के लिए ठेलता रहा, और जब चुन्नू अपनी जगह से न टला तो विष्णु स्वयं गया और हरी को पकड़कर ले आया। इस क्रिया में न वह एक शब्द चुन्नू से बोला, न हरी से। अभिप्राय यह कि वह मां के आदेश को समझ गया, शब्द नहीं बोल पाया। इस तरह के अनुभवों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि अर्थ-गति पहले होती है, शब्द के उच्चारण की सामर्थ्य बाद को आती है। शब्द के उच्चारण की शक्ति एक अच्छे स्वस्थ बच्चे में छठे महीने से शुरू हो जाती है, इसीलिए आर्य-संस्कृति में अन्नप्राशन-संस्कार के अवसर पर यह मन्त्र पढ़ा जाता था—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।

ऊपर शब्द को अनादि और अनन्त बताया है। इससे यह भी सिद्ध है कि वह नित्य है। नित्यत्व के समर्थन में मीमांसकों ने तरह-तरह के तर्क उपस्थित किये हैं। उनका कहना है कि यदि शब्द

उच्चारण करने के बाद मिट जाता तो 'गाय लाओ' कहने पर दूसरा कैसे गाय ला सकता। यदि कहा जाय कि गाय लाने की क्रिया समाप्त होने पर शब्द मिट जाता है, तो क्या वही मनुष्य फिर 'गाय' शब्द का प्रयोग नहीं करता, अथवा क्या बच्चा बार-बार एक ही शब्द का अर्थ और उच्चारण सीखता है। इससे प्रतीत होता है कि शब्द सभी मौजूद हैं, उनकी स्थिति आकाश में है और गौण-रूप से मनुष्य के मस्तिष्क में। संस्कार से जमे हुए ये शब्द आवश्यकता के अनुसार उद्बोधित होते रहते हैं। जब कोई नए शब्दों का प्रयोग करता है तब वह उसी तरह करता है जिस तरह वैदिक ऋषियों ने मन्त्रों को पकड़ा था, या जैसे कवि नये पद्य रचता है, ऋषि और कवि ज्ञान के अक्षय, अनन्त भण्डार से ही कुछ कण पकड़ सके हैं। इसी तरह शब्द के अनन्त, अनादि, नित्य भंडार में से कुछ ही शब्द प्रयोग में लाए जा सके हैं, बाक़ी आकाश में अन्तर्हित हैं, लीन हैं। हमारी मौलिकता, जिसके थोड़े अंश को पाकर हम लोग फूले नहीं समाते, केवल यही है कि हम इसमें का कुछ अंश पकड़कर जनसमाज के सामने रख लेते हैं।

इस विवेचन के बाद इस बात का विचार बेकार हो जाता है कि शब्द अथवा भाषा का प्रादुर्भाव कब हुआ। भाषा प्रवाह-रूप से चली आ रही है। वह सृष्टि का एक अंग है। सृष्टि और प्रलय के साथ भाषा का उद्गम और लोप होता रहता है। उद्गम और लोप एक ही चक्र के बिन्दु हैं। जैसे दार्शनिक यह नहीं बतला पाता कि अंडा पहले हुआ या मुर्गी, या वृक्ष पहले हुआ या बीज, इसी प्रकार भाषा के बारे में भी हम नहीं कह सकते कि उसका प्रादुर्भाव कब हुआ। एक तरह से यही कहना अनर्गल है कि प्रादुर्भाव हुआ। यदि एक चक्र बना-बनाया सामने हो तो उसके

इच्छावाला मनुष्य वैयाकरण के घर जाकर यह कभी नहीं कहता कि शब्द बना दो, उनका प्रयोग करूँगा। इसी का समर्थन वाक्य-पदीय में भर्तृहरि करते हैं—

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥

यानी जैसे (नेत्र आदि) इन्द्रियों की अपने (रूप आदि) विषयों के प्रति अनादि योग्यता है, उसी तरह शब्दों का अर्थों के साथ अनादि सम्बन्ध और योग्यता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं। वैशेषिक सूत्र है—

शब्दार्थावसम्बद्धौ (७।२।१८)

शबर स्वामी व्याख्या करते हैं कि स्वभाव से ही ये शब्द और अर्थ असम्बद्ध हैं, (घट आदि) शब्द मुँह में मिलते हैं और (घड़ा आदि) अर्थ (पदार्थ) जमीन पर।

स्वभावतो ह्यसम्बद्धावेतौ शब्दार्थौ, मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थम्। (मी० सू० १।१।५)

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानने पर यह भी आपत्ति उठती है कि ऐसी हालत में एक शब्द का त्रिकाल में एक ही अर्थ होना चाहिए। पर है इसके बिल्कुल उलटा। वैदिक साहित्य में ही असुर शब्द का अर्थ कहीं देववाचक है, कहीं दैत्यवाचक। हिन्दी में 'पुट, हट' आदि शब्दों का वह अर्थ नहीं है जो अँगरेजी में। इसीलिए वैशेषिक सूत्र कहता है कि शब्द से अर्थ का ज्ञान सामयिक है—

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः। (वै० सू० ७।२।२०)

उद्योतकार का मत है कि यह समय ईश्वर-कृत संकेत है। भगवान् ने जिस शब्द से जिस अर्थ का संकेत कर दिया, वह शब्द उसी अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस मत की अपेक्षा वात्स्यायन का यह मत अधिक तर्कसंगत है—

कः पुनरयं समयः ? अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेय-मित्यभिधानाभिधेयनियमनियोगः।

अर्थात् यह समय क्या है ? इस शब्द के यह अर्थ होते हैं, यही अभिधानाभिधेय नियम ही समय है।

दोनों मतों का समाधान इस प्रकार हो सकता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की 'नित्यता' का केवल यह मतलब है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ है, यह नित्यसिद्ध बात है। पर किसी विशेष शब्द का कौन विशेष अर्थ है यह बात सामयिक है, समय-समय पर शब्द का विशेष-विशेष अर्थ होता है। रही यह आपत्ति कि शब्द कहीं और अर्थ कहीं, शब्द मुँह में और चीज जमीन में अथवा शब्द मुँह में (आकाशपुष्प) और चीज कहीं नहीं, तो इसका उत्तर है कि अर्थ का मतलब भावात्मक है, वह जो मस्तिष्क में रहता है। घड़ा शब्द के उच्चारण के साथ-साथ उस शब्द से परिचय रखनेवाले जनों के मस्तिष्क में भौतिक पदार्थ घड़ा के आकार और गुणों की उपस्थिति हो जाती है, अथवा यह कहना चाहिए कि पूर्व उपस्थित वह भाव जागृत हो जाता है। यदि भौतिक वस्तु से सम्बन्ध होता, नित्य हो चाहे सामयिक, तो आग शब्द का उच्चारण करते ही हम हिन्दीवालों के मुँह में आग पैदा हो जाती।

इस सम्बन्ध के बारे में जैन, बौद्ध आदि अन्य दर्शनों में भी काफी विचार किया गया है, पर मैं उन दार्शनिक जटिलताओं की

और आपका ध्यान खींचकर आपका समय नहीं नष्ट करना चाहता और न अपने व्याख्यान को और नीरस बनाकर आपको उबाना चाहता हूँ। जिस मत का यहाँ अन्त में प्रतिपादन किया गया है, वही आधुनिक पच्छिमी सिद्धान्तों की खोज के भी अनुकूल है।

इतनी चर्चा के वाद अर्थ क्या चीज़ है, इस वात का भी थोड़ा विचार कर लेना ज़रूरी है। जब हम किसी शब्द को बोलते हैं या सुनते हैं तो उसके द्वारा जो विचार या भाव हमारे मन में, मस्तिष्क में जागृत होता है, वही उसका अर्थ है। शास्त्रकार ने इस वात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥

यह विचार या भाव संस्कार-जन्य है, और एक ही शब्द का अर्थ प्रत्येक मनुष्य के संस्कार के अनुसार अलग-अलग होता है। **'रामराज्य'** का जो पुनीत अर्थ गान्धीजी के मन में है उसका ठीक उल्टा जिन्ना साहब के दिमाग़ में है। दोनों इस शब्द का इस्तेमाल करते हैं, पर कितने जुदा-जुदा मानी में। अथवा **पाकिस्तान** शब्द से जो भाव एक साधारण हिन्दू के मन में जागृत होता है, वह उसके मुसल्मान भाई के मस्तिष्क से कितना भिन्न है। या एक ही परिवार को लीजिए। पिता बड़े बेटे को प्यार करता है और उसे सब अधिकार दे रक्खा है, और छोटे की अवहेलना करता है, माना कि उसके दुर्गुणों के ही कारण सही। अब **'पिता'** शब्द से जो भाव इन दो पुत्रों के मन में उठेंगे, वे एक दूसरे से कितने भिन्न होंगे? आप कहेंगे कि इस शब्द का बोध तो एक ही व्यक्ति का होगा जो उनके जन्म का कारण

यह बात ठीक है। पर 'जन्म देनेवाला' या 'हमारी माता का पति' या 'इस घर का असली मालिक' आदि भाव तो कभी-कभी दार्शनिक मीमांसा करने पर ही जागृत होंगे। अधिकतर जो प्रत्यक्ष व्यवहार उनका पिता उन दोनों के साथ करता है उसकी प्रतिक्रिया या प्रतीक रूप से ही भाव उन दोनों के मन में उठेंगे। **मांस** शब्द का अर्थ दाल-रोटी खानेवाले निरामिष-भोजी हिन्दुस्तानी के मन में एक, और गोश्तरोटी खानेवाले दूसरे हिन्दुस्तानी के मन में दूसरा होगा। भिन्न-भिन्न मनुष्यों ही को क्यों, एक ही को ले लीजिए। संस्कार बदल जाने से एक ही मनुष्य जिस गाय को **अघ्न्या** मानता था उसी को **वध्या** मानने लगता है। अथवा जिन पर बचपन में फूल चढ़ाता था उन देवी-देवताओं को पत्थर की मूर्तियाँ भर समझने लगता है।

प्रसिद्ध अँगरेज दार्शनिक लॉक का मत है कि आदमी बचपन से ही बहुत से शब्द ऐसे सीख लेते हैं जिनका अर्थ अनिश्चित, अपूर्ण और अस्तव्यस्त ही वह समझते हैं, पर जिन्दगी भर बहुधा वह उन शब्दों को उन्हीं अपूर्ण अर्थों में इस्तेमाल करते रहते हैं। लॉक का यह कहना साधारण रीति से ठीक है। हमारे दैनिक व्यवहार के बहुतेरे शब्दों के अर्थ वास्तविक दर्शन और विज्ञान से बहुत दूर रहते हैं। सवेरे हम कहते हैं कि 'सूरज निकल आया' पर क्या सूरज निकलता है? क्या विज्ञान हमें नहीं बताता कि सूरज प्रायः जहाँ था वहीं है, हम ही या पृथ्वी के जिस अंश पर हम हैं वही सूरज से ओझल रहा है। ऐसी स्थिति में यदि सूरज कहता कि पृथ्वी का वह अंश जिस पर अमुक जीव-जन्तु हैं निकल आया तो ज़्यादा ठीक होता। अथवा **आदमी** शब्द का व्यवहार करनेवाले कितने लोग जानते हैं कि इस शब्द से सामी सम्प्रदाय की कल्पना के आदि पुरुष '**आदम**' से सम्बन्ध स्थापित होता है, और यह कल्पना भी रोचक

होने पर भी कितनी असत्य है! बचपन से पड़े हुए संस्कार आसानी से नहीं मिटते। सभी गान्धीजी या जवाहरलालजी की तरह बुद्धि के ही अनुकूल व्यवहार करनेवाले नहीं होते। कितने ही, राष्ट्रीय विचारों पर दृढ़ आस्था रखनेवाले ऊँची जातवाले हिन्दू अछूत भाइयों के हाथ का पानी पीने में आनाकानी करते हैं। मन और वचन का सहयोग आसानी से हो जाता है। हम राष्ट्रीय विचारवाले प्रत्येक भारतीय को एक दूसरे के बराबर समझते हैं, हिन्दू मुसलमान का फ़र्क़ नहीं करना चाहते। कहते भी ऐसा हैं। पर यदि हिन्दू-समाज का कोई नवयुवक किसी मुसलमान लड़की से शादी कर बैठता है या किसी स्वतन्त्र कुल की हिन्दू-कन्या किसी मुसलमान नवयुवक से ब्याह कर लेती है तो बहुतेरे हिन्दू केवल वाणी और ऊपरी मन से आशीर्वाद दे पाते हैं, अन्तःकरण और व्यवहार से नहीं।

इन सब उदाहरणों से सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ अपूर्ण, अनिश्चित और परिवर्तनशील है। एक ही शब्द का एक अर्थ बोलनेवाले के मन में हो सकता है, दूसरा सुननेवाले के। फिर लक्षण करते समय कौन सा अर्थ लिया जाय? ऐटलांटिक चार्टर को रूज़वेल्ट और चर्चिल ने एक अर्थ में घोषित किया, हम पद-दलित भारतीयों तथा अन्य साम्राज्य-शासन-शोषित देशों ने उसे ऐसे दूसरे अर्थ में ग्रहण किया कि चर्चिल को पार्लियामेंट में घोषणा करनी पड़ी कि भारतीय उस चार्टर के अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं, तथा अँगरेज़-सरकार से पूर्ण सहयोग करनेवाले, हिन्दू-सभा के यशस्वी नेता, वीर सावरकर के तार के जवाब में रूज़वेल्ट साहब को चुप ही रहना श्रेयस्कर जान पड़ा। साहित्य-शास्त्रियों ने एक उदाहरण दिया है। किसी लड़के को एक जगह खाने का निमन्त्रण मिला, वह पिता के पास अनुमति लेने गया। पिता बोला 'जाओ

विष खा लो।' अब क्या इस बात में पिता पुत्र को आदेश दे रहा है कि जहर खा लो ? ऐसा नहीं हो सकता। कौन पिता अपने प्यारे बेटे से कह सकता है कि जहर खाओ ? इस वाक्य से पिता का अभिप्राय केवल लड़के को न्योते में जाने से मना करना है। यदि लड़का मूर्ख होता तो इस अभिप्राय को न समझकर अर्थ का अनर्थ समझ बैठता। यहाँ शब्द से एक अर्थ निकलता था, वक्ता ने उसे दूसरे में इस्तेमाल किया और श्रोता ने भी उसे उसी अर्थ में लिया। इस तरह एक ही शब्द के अनेक अर्थ संभव हैं, होते हैं, जान भी पड़ते हैं। कौन सा अर्थ वास्तविक है ? एक पश्चिमी विचारक ए० गार्डिनर का मत है कि वाक्य का वही अर्थ है जिसको श्रोता को बोध कराने के लिए वक्ता ने अपने मन में रक्खा है।

ज्ञान के जिस विभाग में अर्थ के बारे में इन विभिन्न पहलुओं से मीमांसा की जाती है, उसे अर्थ-विज्ञान कहते हैं। विज्ञान का अर्थ है—विशिष्ट ज्ञान। प्रत्येक चेतन पदार्थ में ज्ञान की कुछ न कुछ मात्रा रहती है। यह ज्ञान दो तरह का है, एक स्वतःसिद्ध या नैसर्गिक, दूसरा बुद्धिग्राह्य या अभ्यासप्राप्त। मनुष्य में बुद्धि-ग्राह्य ज्ञान की मात्रा अधिक रहती है, पशु-पक्षियों में नैसर्गिक की। कुत्ते के मा-बाप उसे तैरना नहीं सिखाते, वह नैसर्गिक भाव से तैरना जानता है, हम मनुष्यों को सीखना पड़ता है। बुद्धिग्राह्य ज्ञान के दो भाग किये जाते हैं—विज्ञान और कला। विज्ञान में विप्रतिपत्ति और विकल्प की गुंजाइश नहीं होती। इसके तत्त्व सर्वत्र व्यापक होते हैं। कलावाला ज्ञान सीमित और विकल्पात्मक होता है। असितकुमार हलधर दूर तक लम्बी चली जानेवाली उँगलियों से स्त्री के सौंदर्य को अंकित करते हैं, पर रविवर्मा के चित्रों की साधारण नाप की उँगलियों को भी हम असुन्दर नहीं कहते।

विकल्पात्मक और भिन्न होती हुई भी दोनों कलात्मक हैं। रीति-काल की, भरपूर अलंकारों से लदी हुई, कविता भी काव्य की श्रेणी में आती है और साथ ही छायावाद के नीरव अलंकारों से सुशोभित, अनन्त की ओर उड़ान भरनेवाली, आधुनिक हिन्दी-कविता भी सुन्दर और मनोहारिणी है। दोनों काव्यकला के अन्तर्गत हैं। विज्ञान इससे भिन्न है। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम अथवा बौद्धदर्शन का क्षणिकवाद समस्त ब्रह्मांड पर लागू है। गणित के सिद्धान्त के अनुसार दो और दो मिलकर सब जगह चार होते हैं, ऐसा नहीं कि मिलमालिक सेठजी के घर चार या पाँच और मिलमज़दूर के घर दो या तीन। कला का प्रतिपादन शास्त्र करता है। उसका ध्येय साधारणवर्ग या विशिष्ट वर्ग के जन-समुदाय का व्यवहार होता है। उसमें देश और काल के अनुकूल विकल्प होते रहते हैं और ऐसा समझ बैठना कि एक देश और काल का शास्त्र सब देशों और कालों पर लागू होकर स्थिर सत्ता रखता है, अपनी बुद्धि को ठेस लगाना है। विज्ञान का ध्येय है ज्ञान की पिपासा की मौलिक वासना को शान्त करना, उपयोग उसका गौण लक्ष्य है। हम क्यों बोलते हैं, सभी मनुष्य एक ही भाषा क्यों नहीं बोलते, युद्ध क्यों होते हैं, सूरज चक्कर काटता है या ज़मीन इत्यादि सवालों का समाधान विज्ञान के द्वारा ही होता है, शास्त्र से नहीं।

भाषा-विषयक जिन मूल तत्त्वों को मनुष्य की बुद्धि ने पकड़ लिया है, उनके क्रमबद्ध विवेचन को भाषा-विज्ञान कहते हैं। अर्थ भी भाषा का एक अंग है। उसका विवेचन अर्थ-विज्ञान कहलाता है। अगले व्याख्यानों में इसी की चर्चा है।

ओ३म् शम्।

२—अर्थ का निश्चयीकरण

पिछले व्याख्यान में अर्थ का लक्षण करते हुए यह बताया गया था कि अर्थ अनिश्चित और अपूर्ण है। संस्कृत में इन्द्र के लिए कई शब्द इस्तेमाल होते हैं, उनमें से चार ही लीजिए—**इन्द्र, पुरुहूत, पुरन्दर, शतक्रतु**। **इन्द्र** का अर्थ है ऐश्वर्यवाला। **मनुजेन्द्र, मृगेन्द्र** आदि समासों में हमें यही शब्द जुड़ा मिलता है। यदि इन्द्र का निश्चित अर्थ 'देवताओं का राजा' ही रहा होता, तो न तो **'देवेन्द्र'** शब्द की जरूरत पड़ती और न **मनुजेन्द्र, मृगेन्द्र** आदि शब्द बनते। इसी तरह **पुरुहूत** शब्द का अर्थ होता है 'जिसे बार-बार बुलाया जाय'। वैदिक मन्त्रों में **अग्नि** को भी बार-बार बहुत मर्तबा बुलाया गया है, फिर इन्द्र ही में कौन विशेषता थी जो वह तो पुरुहूत हो गए और अग्नि अग्नि ही रह गए। इन्द्र **'पुरन्दर'** भी हैं। 'पुरन्दर' उसे कहेंगे जो **पुरों** (नगरों) को तोड़ता-फोड़ता है। इन्द्र दैत्य-दानवों के पुरों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे, इसीलिए उन्हें पुरन्दर कहा गया। पर शिवजी ने भी दैत्यों के तीन नगरों का विध्वंस किया था; वह **त्रिपुरारि** ही कहलाए, इन्द्र पुरन्दर रहे। इस अन्याय का अनुमान करके ही शायद टीकाकारों ने पुरन्दर का अर्थ करते हुए पुर का अर्थ मेघ बना दिया। **शतक्रतु** का मतलब है जिसने सौ क्रतु (यज्ञ) किए हों। इन्द्र को स्वर्गाधिपति का आसन इसलिए मिला कि उन्होंने सौ यज्ञ किए थे। और यह प्रभुता पाकर वह अपने पद के इतने लोभी हो गए कि जब किसी दूसरे व्यक्ति के सौवें यज्ञ तक पहुँचने की

नौबत आती है तो पहले ही से वह जा-बेजा सभी तरह की तरकीबें करके उस बेचारे के सत्कार्य में विघ्न डाल देते हैं और परिणामस्वरूप वह इन्द्र को पदच्युत करने में असमर्थ रह जाता है। यह पुराण का कथा है। पर क्रतु का अर्थ बुद्धि भी है और शत का अर्थ सौ भी होता है और सैकड़ों भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में शतक्रतु शब्द से ऐसे मनुष्य का भी बोध हो सकता है जो अपनी बुद्धि के कौशल से सैकड़ों कार्यों का सम्पादन करता हो। क्यों न इस शब्द से पंचतन्त्र के जम्बूक का ग्रहण किया जाय जिसने अपनी बुद्धि से मृगेन्द्र को भी परास्त किया? इस तरह हमने देखा कि जो चार शब्द हमने उठाए थे, उन चारों का ही अर्थ अनिश्चित है। ये चारों शब्द ऐसे हैं जो एकार्थ हैं, अनेकार्थ नहीं। संस्कृत में 'गौ' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। पुंलिंग में आदित्य, बैल, किरण, गोमेधयज्ञ, और स्त्रीलिंग में दिशा, वाणी, भूमि और गाय। एक ही शब्द के आठ अर्थ! कितना अनिश्चय!

अपूर्णता भी इससे स्पष्ट हो जाती है कि जिस व्यक्ति का बोध इन्द्रवाचक ऊपर के चार शब्द कराते हैं, वह अर्थ की दृष्टि से न केवल इन्द्र है, न केवल पुरुहूत, न केवल पुरन्दर, न केवल शतक्रतु, वही व्यक्ति इन्द्र भी है, पुरुहूत भी, पुरन्दर भी, शतक्रतु भी। इनमें से किसी शब्द के द्वारा उस व्यक्ति के सम्पूर्ण गुणों और लक्षणों का बोध नहीं कराते, केवल एक गुण या लक्षण का ही संकेत करके उस व्यक्ति का बोध करा देते हैं। बा० राजेन्द्रप्रसाद कहने से हम केवल इतना निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यह किसी हिन्दू व्यक्ति का नाम है, पर इससे किसी विशेष महापुरुष की द्योतकता नहीं आ पाती। यदि दो-एक विशेषण जोड़कर बिहार

के अग्रणी नेता श्री डा० राजेन्द्रप्रसादजी का निश्चयात्मक बोध करा भी दिया जाय, तो भी अपूर्णता रह जायगी। क्योंकि इतने से न तो हम उनकी विशेष आकृति, आकार, सौम्य स्वभाव, सरल प्रकृति, अजातशत्रुता आदि गुणों का उल्लेख पाते हैं और न चम्पारन-सत्याग्रह, विहार-भूचाल आदि स्थानों और अवसरों पर की गई निःस्वार्थ देश-सेवा का वर्णन और विवरण। इन उदाहरणों से शब्दार्थ की अपूर्णता और अनिश्चय का आभास मिल जाता है।

शब्द से केवल अर्थ का संकेत मिलता है। आदमी या मनुष्य कहने से दो टाँगोंवाले, दो आँख, दो कान, दो हाथ आदि रखने-वाले पंचप्राणधारी, पंचेन्द्रियवाले जीव का बोध होता है। यह संकेतित अर्थ प्रकृति-प्रत्यय से सिद्ध शाब्दिक अर्थ ही हो यह आवश्यक नहीं है। नहीं तो **रदन** से फाड़नेवाले केवल दाँत का बोध न होता, कुल्हाड़ा का भी संकेत मिलता। अथवा **सर्प** से रेंगनेवाले विशेष कीड़े, साँप का ही सीमित अर्थ न होकर केचुवा, गिजाई आदि का भी बोध होता। साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ का कथन है कि तब हम इस तरह के वाक्य जैसे **'गौः शेते'** (गाय सोती है) नहीं बोल पाते, क्योंकि **गौः** का शाब्दिक अर्थ है 'चलनेवाला' और चलने की और सोने की क्रिया साथ-साथ नहीं हो सकती। हर एक शब्द का प्रवृत्ति से एक अर्थ हो जाता है, उस अर्थ को रूढ़ कहते हैं। रूढ़ का मतलब है जो उस शब्द पर जम गया हो और अर्थ जमता है निरन्तर प्रयोग से। इसी को वैयाकरण संकेत कहते हैं। संकेतित अर्थ बतलानेवाली शब्दशक्ति को अभिधा कहते हैं। इसके बारे में आगे चलकर अधिक कहा जायगा।

आप पूछ सकते हैं कि जब शब्द के अर्थ के विषय में इतना अनिश्चय है तब लोकव्यवहार कैसे चलता है। वाक्यपदीय का कहना है कि नीचे लिखी चीजें अर्थ का एक जगह नियन्त्रण कर देती हैं, जिससे उस समय के प्रयोग में दूसरे अर्थ नहीं उठते—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

१. **संयोग**—संस्कृत में **हरि** शब्द के कई अर्थ होते हैं, जैसे बन्दर, शेर, विष्णु आदि। अब यदि **सशंखचक्रो हरिः** कहें तो विष्णु का ही बोध होगा; क्योंकि शंख और चक्र विष्णु के ही पास रहते हैं, दूसरों के साथ नहीं। अवतारों में कई राम हुए हैं, **राघव-राम, परशुराम, बलराम**। यदि परशुराम कहें तो उन राम का बोध होगा जिनके पास **परशु** (फरसा) रहता था।

२. **विप्रयोग**—यदि किसी का किसी चीज से संयोग रहता हो और उसका उससे वियोग दिखाया जाय तो भी उसी का बोध होगा, जैसे **अशङ्खचक्रो हरिः**। इस उदाहरण में 'शंखचक्ररहित' शब्द से विष्णु का ही संकेत मिलता है। हिन्दी में कौवा एक चिड़िया का नाम है, और गले में एक विशेष अवयव का भी, जिसे अलिजिह्वा भी कहते हैं। अब अगर **परकटा कौवा** कहें तो कौवा पक्षी का ही अर्थ निकलेगा; क्योंकि उसी के पर होते हैं।

३. **साहचर्य**—यदि दो व्यक्ति या चीजें साथ-साथ रहती हों तो उस साथ के उल्लेख से भी अर्थ का नियन्त्रण होता है। अर्जुन दो थे, एक पांडव, दूसरे कार्तवीर्य। अब यदि 'भीम और अर्जुन' कहें तो पांडव अर्जुन का ही बोध होगा, कार्तवीर्य का नहीं।

४. **विरोधिता**—जिनका विरोध प्रसिद्ध है, उनके विरोधी का उल्लेख करने से भी अर्थ का नियन्त्रण होता है, जैसे 'कर्ण और अर्जुन' कहने से कर्ण के प्रतिद्वन्द्वी पांडव अर्जुन का बोध होगा, कार्तवीर्य का नहीं। धूपछाँह कहने से **धूप** शब्द से सूर्यातप (घाम) का संकेत मिलता है, हवन में जो पड़ती है या जो शरीर पर मली जाती है उस धूप का नहीं।

५. **अर्थ**—सब काम किसी न किसी प्रयोजन से किए जाते हैं, जब हम **'स्थाणुं वन्दे'** कहते हैं तब वन्दना करने का प्रयोजन भवसागर से पार होने का है और यह शिव की वन्दना से होगा, खम्भे को नमस्कार करने से नहीं।

६. **प्रकरण**—बोलने और सुननेवाले की बुद्धि में जो अर्थ होगा वही प्रकरण से नियन्त्रित अर्थ कहलाता है, जैसे **'सरकार से क्या छिपा है'** इस वाक्य में सरकार का अर्थ 'आप' होगा, यदि नौकर मालिक से बात कर रहा हो। अन्यथा सरकार का अर्थ शासन होगा।

७. **लिंग**—किसी-किसी के विशेष चिह्न, लक्षण होते हैं, जैसे कामदेव का मकर, शिव का चन्द्र आदि, इसको लिंग कहते हैं। हिन्दी में **बाबा** का अर्थ है दादा, साधू आदि और कहीं-कहीं **बाबाजी** से रसोइए का। अब यदि **'दंडी बाबा'** कहें तो एक विशेष प्रकार के साधुओं का बोध होता है जिनका चिह्न है **दंड** (लठिया)।

८. **अन्य शब्द की निकटता**—**पान** शब्द का अर्थ पीना और ताम्बूल होता है, पर **जलपान** में जल की निकटता के कारण ताम्बूल का निराकरण होगा और **मगही पान** में पीने का, **मगही** शब्द की निकटता से।

९. **सामर्थ्य**— संस्कृत में **मधु** शब्द के कई अर्थ होते हैं, शहद, शराब, वसन्त और दैत्य-विशेष। अब यदि 'मधु से मतवाली कोयल' कहा जाय तो अन्य अर्थों का निरोध होकर, केवल वसन्त का बोध होगा; क्योंकि कोयल को मस्त कर देने की सामर्थ्य वसन्त में ही है, अन्यों में नहीं।

१०. **औचित्य**—एक शब्द के कई अर्थ हों तो जिस जगह उसका प्रयोग उचित हो, उस औचित्य से उस शब्द का अर्थ नियंत्रित होता है। विश्वनाथ ने एक उदाहरण दिया है **'पातु वो दयितामुखम्'** प्रसंग से यहाँ यह मालूम होता है कि एक प्रेमी अपनी प्रेयसी की नाराज़ी से दुखी है। तब कोई सखी उसे आशीर्वाद देती है कि दयिता का मुख तुम्हारी रक्षा करे। यहाँ **मुख** का अर्थ मुँह न होकर 'सांमुख्य' है।

११. **देश**—जगह से भी अनेकार्थ शब्द का अर्थ नियन्त्रित होता है। संस्कृत में **चन्द्र** का अर्थ चन्द्रमा होता है और कपूर भी। यदि कहें कि **विभाति गगने चन्द्रः** (आकाश में चन्द्र शोभित हो रहा है) तो चन्द्रमा का ही बोध होगा, कपूर का नहीं, और अगर **ताम्बूले चन्द्रः** (पान में चन्द्र) कहें तो कपूर का, चन्द्रमा का नहीं। लोहार के यहाँ की **चद्दर** का एक अर्थ और बजाज के यहाँ वाली का दूसरा है। शतरंज और घोड़े की **चाल** में अन्तर है।

१२. **काल**—किसी अनेकार्थ शब्द के अर्थ का नियन्त्रण काल (समय) से भी हो सकता है। **चित्रभानु** का अर्थ सूर्य भी है और आग भी। अब यदि **निशि चित्रभानुः** (रात में चित्रभानु) कहें तो आग का बोध होगा, क्योंकि रात में सूरज का होना असम्भव है।

१३. **व्यक्ति**—व्यक्ति से मतलब पुंलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग से है। एक ही शब्द का एक लिंग में एक अर्थ हो सकता है और दूसरे में दूसरा। ऊपर बताया जा चुका है कि **'गौः'** शब्द का पुंलिंग में बैल अर्थ होता है, स्त्रीलिंग में गाय। अब यदि **गौः वन्द्या** (गाय पूज्य है) कहें तो वन्द्या के स्त्रीलिंग से गाय का बोध होगा, बैल का नहीं। **'भाति रथाङ्गम्'** में नपुंसकलिंग के कारण रथाङ्ग का अर्थ पहिया है, चक्रवाक नहीं; क्योंकि चक्रवाक के अर्थ में रथाङ्ग शब्द पुंलिंग होता है। हिन्दी में **पति** पुंलिंग में स्वामी का बोधक है, स्त्रीलिंग में इज्जत-आबरू का।

१४. **स्वर**—स्वर से मतलब सुर, बलाघात आदि से है। इसका हिन्दी बोलचाल में ही प्रयोग मिलेगा। जैसे हिन्दी का **न** शब्द एक तरह बोलने से निश्चयात्मक अर्थ का बोधक है, दूसरे से प्रतिषेधात्मक का, **न बोलो** (प्रतिषेध) और **बोलो न** (निश्चयात्मक)। इसी तरह **हाँ** शब्द के कई अर्थ होते हैं, प्रश्नात्मक, सन्देहात्मक, प्रतिषेधात्मक आदि जिनका निश्चय केवल सुर से होता है।

१५. ऊपर की कारिकाओं में स्वरादयः कहा है। आदि से आचार्यों ने **अभिनय** का ग्रहण किया है। अभिनय के अन्तर्गत इंगित, आकार आदि भी आ जाते हैं। पं० रामदहिन मिश्र ने काव्यालोक में यह सुन्दर उदाहरण दिया है—

इतनी सी वा नारि के, इतने से उरजात।
इतने हैं लोचन बड़े, दूबर इतनो गात॥

यहाँ **इतने** का निश्चय हाथ से बताए प्रमाण से ही चारों बार होगा। अन्य आचार्यों का मत है कि आदि से समास, सत्व, षत्व, णत्व आदि का ग्रहण करना चाहिए।

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी हर्मन पाउल ने भी किसी शब्द का विशेष अर्थ में कैसे-कैसे नियन्त्रण होता है इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि हरएक शब्द का, यहाँ तक कि व्यक्तिवाचक शब्दों का भी, अर्थ अनिश्चित होता है और लोक-व्यवहार में निश्चयात्मकता कई उपायों से लाई जाती है। पुरुषवाचक सर्वनाम, दिनों के नाम, मनुष्यों के तथा शहरों के नाम भी अनिश्चित अर्थ के द्योतक हैं। मैं, तू, आप, वह, यह आदि से नरेन्द्र का भी बोध हो सकता है और वीरेन्द्र का भी, अथवा फ़खरुलइस्लाम का या पीटर पाल का। इतवार, सोमवार, चैत, वैसाख कहने से किस विशेष इतवार, सोमवार, चैत, वैसाख का बोध होता है यह पता नहीं चलता। परमेश्वर, संसार, पृथिवी, सूर्य आदि भी किसी विशेष का संकेत नहीं करते। शैवों का परमेश्वर एक, वैष्णवों का दूसरा, हिन्दू के संसार से मुसलमान का संसार अलग। जिस पृथिवी पर हम रहते हैं उसके अलावा सैकड़ों भूमियाँ हैं और सूर्य भी। राजेन्द्र बाबू कई हो सकते हैं, कौन से राजेन्द्र बाबू यह केवल नाम से पता नहीं चलता। श्रीनगर कई हैं, एक काश्मीर में दूसरा गढ़वाल में। पाउल के मत के अनुसार नीचे लिखी बातें निश्चयात्मकता लाती हैं।

१. **वक्ता और श्रोता का समान अवधारण**। जब नरेन्द्र उपेन्द्र से कहता है कि कल के तूफ़ान ने पेड़ गिरा दिया, तो उपेन्द्र को मालूम है कि किस पेड़ का संकेत है। यह समान अवधारण पूर्व परिचय के कारण हो सकता है या इंगित, इशारे आदि से।

२. निश्चयात्मकता का कारण **वक्ता के पहले बोले हुए वाक्य** भी हो सकते हैं। यदि हम विक्रमादित्य की कथा कह रहे

हों तो **राजा बोले** आदि वाक्यों में राजा शब्द से उस विशेष राजा का बोध होगा।

३. **विशेष सामर्थ्य**। कोई भी अर्थ का अनिश्चित शब्द विशेष सामर्थ्य पाकर निश्चित बोध करा सकता है। यह सामर्थ्य वक्ता और श्रोता की समान वसति, समान आयु, समान श्रेणी, समान व्यापार या धन्धा अथवा अन्य समानताओं से प्राप्त होती है। कोई देहाती जब '**शहर जा रहा हूँ, कुछ मँगाना तो नहीं है ?**' कहता है तब नजदीक के शहर का ही बोध होता है। इसी तरह बनारस में बैठा हुआ नागरिक जब अपने मित्र से कहता है कि **टाउन हाल में आज सभा होगी** तब टाउन हाल शब्द से बनारस के ही टाउन हाल का संकेत मिलता है, पटनावाले का नहीं। घर में बैठा हुआ पिता जब पुत्र से कहता है कि '**बेटा ! बैठक के किवाड़े खोल दो कोई मिलने आया है**' तब अपने घर की ही बैठक का संकेत करता है। अथवा भंडारघर में बैठी हुई माँ जब लड़की से कहती है कि '**बेटी ! अलमारी से घी तो निकाल ले**' तो उसी भंडार की अलमारी का उल्लेख है, बैठक की अल्मारी का नहीं। इसी तरह '**सोमवार से इम्तहान शुरू होंगे**' इस वाक्य में आगामी सोमवार, '**भाई कल आ रहे हैं**' में कहने-वाले के वह भाई जिनके बारे में श्रोता को कुछ न कुछ ज्ञान है, '**श्रीमतीजी बीमार हैं**' में प्रायः अपनी पत्नी आदि विशेष संकेतों का बोध होता है। इसी प्रकार अन्य वाक्यों में भी समझना चाहिए।

४. **अन्य शब्दों को जोड़कर भी अर्थ की निश्चित सीमा** निर्धारित की जाती है। **महल** शब्द को **राज** जोड़कर सीमित करेंगे और राजमहल को फिर **विक्रमादित्य** का राजमहल। आगे

उज्जैन के चक्रवर्ती विक्रमादित्य का राजमहल से एक विशेष राजमहल का बोध हो सकता है। पर इस राजा के भी कई राज-महल भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहे होंगे, इसलिए किसी खास निश्चित महल का बोध कराने के लिए और शब्द जोड़ने पड़ेंगे।

५. निश्चय का बोध अनिश्चित अर्थवाले शब्द के **सम्बन्धी शब्द या शब्दों से** भी हो जाता है। **'सवार ने घोड़ा बढ़ाया'** में सवार का घोड़ा संकेतित है, **मैंने कमर कस ली** में अपनी कमर का, **मैंने बाँह पकड़ ली** में दूसरे पासवाले की बाँह का बोध होता है।

ये पाँचों उपाय भर्तृहरि मुनि द्वारा निर्धारित, ऊपर उल्लिखित संयोग आदि के अन्तर्गत आ जाते हैं। कभी-कभी इस अनेकार्थता के कारण अच्छा मनोरंजन, निश्चित अर्थ की जानकारी होने पर भी, हो जाता है। **'जाओ पिताजी को बुला लाओ'** यह वाक्य माँ के मुँह से सुनकर भी नटखट पुत्र माँ से पूछ बैठता है 'तुम्हारे या अपने।' इसी तरह शरारती भतीजा चचायार से मुस्करा कर कह सकता है कि **'जाइए चाची दूध पीने को बुलाती हैं'** जिसमें स्पष्ट ही **'स्तन्य'** पीने की बीभत्स व्यंजना है। कभी-कभी श्वसुर महोदय जब आए हुए होते हैं तब श्रीमतीजी अपने बच्चों को यह आदेश देकर कि **'जाओ बाबूजी को नाश्ता दे आओ'** भ्रम में डाल देती हैं।

प्राय: जिन उपायों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन्हीं से वास्तविक बह्वर्थक शब्दों का अर्थ सीमित किया जाता है। ये उदाहरण देखिए—

तोते की सी नाक, नाक नाली में छिनकनी चाहिए, सूअर की नाक।

जवाब—'नहीं, हरि।'

सवाल—'क्या वानरेन्द्र हैं?'

यहाँ माधव, चक्री, धरणिधर, घोराहिमर्दी, हरि इन शब्दों से कृष्ण का निश्चित बोध होता था, पर सत्यभामा ने हँसी-मजाक में इन शब्दों के दूसरे अर्थ लिए। मनोरंजन की कितनी अच्छी सामग्री है। जरा **कुलाल, द्विजिह्व, कपीन्द्र** की व्यंजना का भी खयाल रखिए।

अर्थ के निश्चय करने के जितने उपाय ऊपर बताये गये हैं वे सबके सब प्रसंग के ही अंग हैं। वास्तव में प्रसंग ही अर्थ का निश्चय करता है। इसी को लक्ष्य करके वाक्यपदीय में कहा गया है—

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥

अर्थात् शब्दों के अर्थों का प्रविभाग केवल शब्द की शकल से नहीं होता, वह होता है वाक्य से, प्रकरण से, जिस प्रयोजन से शब्द बोले जायँ उससे, औचित्य से और जगह तथा समय से। ये सभी चीजें मिलकर या एक-एक, किस शब्द का क्या अर्थ है यह विभाजन कर देती हैं। शब्दमात्र के समझ लेने से शब्द के वास्तविक अर्थ का बोध नहीं होता, उसका बोध वाक्य में पड़ने से होता है, यह बात शब्दशक्तिप्रकाशिका ने नीचे लिखी कारिका में स्पष्ट कर दी है—

वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।
सम्पद्यते शब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः॥

वाक्यपदीय में भी यही बात शब्दार्थ के बारे में कही गई है—

ये शब्दाः नित्यसम्बन्धाः विवेके ज्ञातशक्तयः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषामर्थो विभज्यते ॥

यानी जिन शब्दों का सम्बन्ध नित्य है और जिनकी शक्ति का विवेक से ज्ञान है, उनका अर्थ 'वाक्य में प्रयोग होने पर' अन्वय और व्यतिरेक से अलग-अलग किया जाता है ।

ऊपर कह चुके हैं कि वैयाकरणों के मत से शब्द नित्य है और उसका अर्थ से सम्बन्ध भी नित्य है । प्रत्येक शब्द का कुछ न कुछ अर्थ होता है यह कथन दर्शनमात्र है और इसकी सचाई इस बात पर निर्भर है कि हम किस शब्द को किस भाषा में बोल रहे हैं। एक ही शब्द एक भाषा में सार्थक है, तो दूसरी में निरर्थक । इस कारण प्रसंग का सबसे मोटा अंग भाषा है । **प्लम्** (बेर) अँगरेज़ी के प्रसंग में सार्थक है, संस्कृत के प्रसंग में निरर्थक । दूसरी ओर **प्लव** (कूदना) संस्कृत के प्रसंग में सार्थक है, अँगरेज़ी में निरर्थक । इसी तरह अरबी, चीनी आदि भाषाओं के उन शब्दों को छोड़कर जो हमारी भाषा में आकर घुल-मिलकर आगने हो गये हैं, बाकी सब हिन्दी के लिए निरर्थक हैं ।

भाषा के अनन्तर प्रसंग का मुख्य अंग है **वक्ता** । और वक्ता किस परिस्थिति में बोल रहा है, यह भी कम महत्त्व की बात नहीं है । साधारण रीति से जब हम कोई बात सुनते हैं तो तुरन्त इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि वक्ता ने वे शब्द उसी अर्थ में कहे होंगे जिसमें हम कहते । बहुधा यह अर्थ होता भी ऐसा ही है, पर कभी-कभी नहीं भी होता । ठीक अर्थ जानने के लिए हमें वक्ता और उसके अभिप्राय तथा परिस्थिति का ध्यान रखना चाहिए । कुछ उदाहरण लीजिए ।

पं० गोविन्द मालवीय से एक अँगरेज पुलिस अफ़सर ने **'सिली-ऐस्'** कह दिया। पंडितजी को बहुत बुरा लगा। जब मामला अदालत तक पहुँचा तो अदालत ने यह निर्णय किया कि यह शब्द अँगरेजी बोलचाल से परिचित लोगों में साधारण रीति से प्रयोग में आता है, इसमें कोई गाली नहीं। पंडितजी को इसलिए बुरा लगा; क्योंकि वह अँगरेजी मुहाविरे से अनभिज्ञ हैं। यहाँ पर सम्भव है कि वक्ता ने साधारण ही अर्थ में इस्तेमाल किया था। यह बात पन्द्रह-सोलह साल पुरानी है। अभी कल की ताज़ी बात है। गोरखपुर के पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने क्रान्तिकारी नेता श्री शिब्बनलाल सक्सेना के बारे में अपनी मेम साहबा को लिखा कि **'आइ फ़ेल्ट आइ वुड् टू हिम् टु डेथ'** जिसका हिन्दी में अर्थ हुआ कि मेरा जी चाहा कि उसे मार डालूँ। अदालत में जब शिब्बनलालजी की ओर से कहा गया कि इस वाक्य से पुलिस कप्तान की हिंसक प्रवृत्ति की सूचना मिलती है, तब अँगरेज जज ने बताया कि ये शब्द अँगरेजी में साधारण आवेश और कोप के द्योतक हैं, हिंसा का कोई सवाल नहीं। इन दोनों उदाहरणों से विदित है कि हम हिन्दुस्तानियों ने अँगरेज़ी मुहाविरों का ठीक मतलब नहीं समझा। इसी तरह के सैकड़ों उदाहरण हमें अपनी बोलचाल में मिलते हैं। मा अपनी छोटी-छोटी लड़कियों को भी **हरामज़ादी, भतराकाटी, राँड़, चुड़ैल** आदि शब्दों से गुस्से में सम्बोधित

आदमी से भी इसी तरह हम झूठ बातें उन्हीं के हित में कह देते हैं। उन बातों का संकेतित अर्थ उस जगह वास्तविक अर्थ नहीं होता। चुनाव के समय जो-जो आश्वासन उम्मेदवार लोग वोटरों को दे जाते हैं, क्या वे कभी कार्य में परिणत करने के मतलब से दिये जाते हैं? क़सम खाते समय, कौन क़सम खा रहा है इसका ध्यान रखने से, किस अंश तक शपथ की बात सच्ची होगी इसका अन्दाज़ किया जा सकता है। दूकानदार जब **'जो अधिक मुनाफ़ा ले सो गाय खाय'** कहता है, तब सीधा-सादा गाहक तो उसकी बात का विश्वास कर लेता है, पर चौक्कित्ता आदमी तब भी ठोंक-पीटकर और दूसरी जगह भाव देखकर अपना मन स्थिर करता है। उसके मन में शंका बनी रहती है। वह जानता है कि जो शपथ दूकानदार ने खाई है उसका एक और भी अर्थ हो सकता है 'इस सौदे में जो भी अधिक पैसे मैं लूँ, वह मेरे घर में बँधी गाय खायगी'। यह तब की बात है जब दूकानदार बिलकुल सच्चा हो। इसी तरह जब किसी की प्रेयसी वेश्या उससे कहती है कि 'तुम सच जानो। मैं अपने सिर की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि तुम्हें छोड़ मैं किसी को प्यार नहीं करती' तो वह मूर्ख इससे गद्गद हो जाता है, मगर दूसरे लोग जानते हैं कि इस बात में कितनी सचाई है। कचहरी में खड़ा होकर जब गवाही के पेशेवाला गवाह गंगाजली उठाता है तब क्या उसके मन में गंगाजल की पवित्रता का कोई अंश रहता है? इस प्रकार शपथ किसके मुँह से निकल रही है, इससे निश्चय होगा कि उसका क्या अर्थ है।

वक्ता कौन है इससे काव्य में सुन्दर व्यंजना सिद्ध होती है, जिसमें संकेतित अर्थ एक और वास्तविक व्यक्त अर्थ दूसरा। ये उदाहरण देखिए—

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणहो अज्ज मारिओ तेण।
गोदाणइकुडंगवासिणा दरिअसिहेण॥

गोदावरी नदी के किनारे लताकुंजों में एक मनचली सुन्दरी अपने प्रेमी से मिलकर प्रेम-लीलाएँ किया करती थी। वहीं एक साधू नहाने-धोने, पूजा-पाठ करने जाया करता था, इसके कारण सुन्दरी की प्रेम-क्रीड़ाओं में बाधा पड़ती थी। किनारे पर कभी-कभी एक कुत्ता भी आ जाता था। साधू महात्मा की पूजा-सामग्री और धोती-अँगौछे के पास निकलकर यह कुत्ता कभी-कभी उन्हें खराब कर देता था इसलिए वह उससे तंग थे। एक दिन उस सुन्दरी ने उस साधू से यह आर्या कही जिसका अर्थ है—

हे महात्मा! निश्चिन्त होकर अब यहाँ घूमा-फिरा कीजिए। आज गोदावरी नदी की खोह में रहनेवाले शेर ने उस कुत्ते को मार डाला।

इस वाक्य में वह सुन्दरी साधू से कह रही है कि आप निश्चिन्त होकर घूमें-फिरें, अब कुत्ता मार दिया गया। पर वास्तव में उसका अभिप्राय इस बात के कहने से बिलकुल उल्टा है, और उसका मतलब सिद्ध हो गया। क्योंकि कुत्ता तो मर गया मगर उससे भयंकर सिंह का अस्तित्व किनारे पर आकर साधू महात्मा को ही खतम कर देगा। अब तो बाबा उधर जाने का नाम ही न लेंगे और वह कुलटा निश्चिन्त होकर खुल खेलेगी। यही बात यदि किसी सच्चे आदमी ने कही होती तो संकेतित अर्थ ही होता, व्यंजना से द्योतित नहीं।

गाथा-सप्तशती की ही दूसरी आर्या लीजिए—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सज्जाए मह णिमज्जिहिसि॥

रात भर के लिए आश्रय माँगकर पथिक ठहर गया है। घर में नवयुवती है और उसकी सास। युवती को युवक पथिक पसन्द आ गया है। अब वह सास की उपस्थिति में ही कैसे उसको आमंत्रित करे कि कहाँ उसे जाना है, इसलिए कहती है, 'हे रतौंधीवाले बटोही, दिन में ही देख लो, सासजी इस जगह सोती हैं, मैं इस जगह। कहीं ऐसा न करना कि मेरे बिछौने पर आ गिरना'। बातचीत से ही उसने जान लिया था कि पथिक अक़्लमन्द है, उसको इशारा काफ़ी था। यहाँ कहनेवाली की नीयत के कारण संकेतित अर्थ न होकर, व्यंजना द्वारा व्यक्त किये हुए अर्थ का ग्रहण होता है।

वक्ता के बाद प्रसंग का मुख्य अंग **बोद्धव्य** होता है, जिससे बात कही जाय। ऊपर बोद्धव्य बच्चों और पागलों का उल्लेख कर चुके हैं, जिनसे कहा कुछ जाता है और अर्थ उसका कुछ निकलता है। काव्य में इसके रोचक उदाहरण मिलते हैं। देखिए यह गाथा—

उअ णिच्चलणिप्फन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्तिव्व॥

एकान्त स्थान है, तालाब का किनारा है। कामिनी छिपे हुए कामुक को सम्बोधन करके कह रही है, 'देखो कमलिनी के पत्ते पर सारस निश्चल, बिना हिले-डुले बैठी हुई कैसी सुन्दर लगती है। मानो मरकत की थाली में शंख रक्खा हो'। कोई दूसरा सुनता तो यही समझता कि कोई सौन्दर्य-प्रेमी कवि-हृदय प्रकृति वर्णन कर रहा है। पर उस युवती के प्रेमी ने ठीक अभिप्रेत अर्थ लगाया। कि यह कि यह जगह बहुत एकान्त है, यहाँ कोई आता-जाता नहीं, नहीं तो यह सारस इस निश्चल भाव से न बैठी होती, इसलिए यहाँ लताकुंज में हम जब चाहें प्रेमलीला कर सकते हैं।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

किसी उत्तम नायिका ने अपने पति को मनाने के लिए एक विश्वसनीय दूती भेजी । दूती बजाय इसके कि नायक को मना लावे, स्वयं उससे रम गई । लौटकर उसने कहा कि मैंने बहुत कोशिश की, पर वह नहीं माने । नायिका समझ गई कि मामला क्या है । बोली 'तू झूठ बोलती है, तू अपनी स्नेहिनी की तकलीफ़ का अनुभव नहीं करती, तू उस नीच के पास गई ही नहीं, तू तो बावली में नहाने गई थी । तेरे अंग-विशेष से सारा चन्दन छूट गया है, अधर की ललाई सब पुँछ गई है, आँखों में अंजन रहा ही नहीं, और तेरी यह पतली देह पुलकित दीखती है' । कुलीन नायिका ने बातों ही बातों में जता दिया कि मुझे मूर्ख न समझ मैं वस्तुस्थिति समझ गई, तू पापिन है ।

प्रसंग के अन्य बहुत से अंगों का विवरण वाक्यपदीय के अनुसार ऊपर दिया जा चुका है ।

प्रसिद्ध अँगरेज विद्वान् सर्वश्री ओग्डेन तथा रिचार्ड्स् ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मीनिंग अव् मीनिंग' में इस प्रसंग के महत्त्व पर यथेष्ट प्रकाश डाला है । उनके मत के अनुसार **'प्रसंग एक विशेष प्रकार से सम्बद्ध घटनाओं या वस्तुओं का समूह है । अस्तित्वों के इस समूह में कुछ ऐसा गुण है कि उसी गुणवाले अन्य समूह बार-बार बनते रहे हैं, और प्रायः एक ही ढंग से'** । उदाहरण दियासलाई जलाने का लीजिए । जब-जब हमें आग की जरूरत

होती है, हम दियासलाई उठाते हैं, एक सींक निकालकर रगड़ते हैं और जल जाने पर अपना काम सिद्ध करते हैं। सभी सींकों के रगड़ने से ज्वाला नहीं निकलती, पर हमको इस बात पर पूरी श्रद्धा है कि दियासलाई की सींक से ज्वाला निकलेगी। इसीलिए दो-चार सींकों के व्यर्थ जाने पर भी जब तक ज्वाला न निकले, हम इस काम को जारी रखते हैं। यह सारी कार्रवाई उस प्रसंग के अनुकूल होती है जो हमारे मन में मौजूद है। इसी को मनोविज्ञानात्मक प्रसंग कहेंगे। इस प्रसंग का यथेष्ट अनुभव पशु-पक्षियों में भी होता है। ओग्डेन और रिचार्ड्स् ने एक कुत्ते का उल्लेख किया है। जिस परिवार में यह पला था उसमें भोजन तैयार होने पर घंटी बजती थी, तब सभी कुटुम्बी भोजन-गृह में जाकर अपनी-अपनी जगह पर बैठ जाते थे। एक-आध बार यह कुत्ता भी पहुँच गया तो कोई-न-कोई उसके मुँह में रोटी के दो-एक टुकड़े डाल बैठा। बस तब से इस कुत्ते ने नियम कर लिया कि जहाँ खाने की घंटी बजी कि यह भोजन-गृह में दाखिल। इसी तरह का अपने यहाँ एक हाथी का क़िस्सा मशहूर है जो रास्ते में पड़ती हुई किसी दर्जी की दूकान पर रोटी का एक टुकड़ा पा गया और फिर वह रोज़ उसकी दूकान पर रोटी के लालच से रुकता रहा। भवभूति ने उत्तरराम-चरित में सीताजी के पाले हुए मोर का उल्लेख किया है जो उन्हीं के बढ़ाये हुए कदम्ब-वृक्ष पर बैठकर अपनेपन का अनुभव करता था। इन उदाहरणों में ये पशु-पक्षी अभ्यास से स्मृति क़ायम रख सके। कुत्ते के मन में घंटी की आवाज़ से लेकर रोटी के टुकड़े पाने तक की सारी घटनाएँ जम गई थीं। मनोवैज्ञानिक प्रसंग में एक घटना के होने पर अन्य घटनाएँ अनायास इस प्रकार अपनेआप अभ्यास के कारण होती रहती हैं कि क्षणभर विचार करने से ऐसा

प्रतीत होता है कि मन से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। पर बात ऐसी नहीं। मन इतने सूक्ष्म रूप से काम करता है कि उसकी लीला का विश्लेषण कर पाना कठिन है। हमारे पहचानने आदि प्रत्यक्ष ज्ञान में तथा अनुमान में ये भीतरी प्रसंग बराबर काम किया करते हैं। कोई चीज या व्यक्ति हमारे अनुभव या स्मृति में आया नहीं कि उसके सम्बन्ध की चीजें आकर जमा हो जाती हैं। बाहरी जगत् से इनका सम्बन्ध रहता है और अजीब ढंग से। सवेरे हवाखोरी को जाते समय अगर रास्ते में किसी पेड़ पर कोई पका आम दिखाई पड़ा तो हमारी प्रकृति और अभ्यास के अनुसार तरह-तरह के विचार हमारे मन में उठेंगे और सम्भव है कि कुछ क्रिया भी हम कर बैठें। ये विचार अधिकतर उठेंगे ही, पर यदि हम किसी और विचार में लीन हैं तो न हमें वह आम दिखाई पड़ेगा, न तत्सम्बन्धी कोई बात ही मन में आयेगी।

मनोवैज्ञानिक प्रसंग क्रिया का भी प्रेरक होता है, भाषा का भी। भाषा-विषयक प्रसंग में वक्ता, बोद्धव्य, परिस्थिति, देश, काल, साहचर्य, विरोध आदि सभी आ जाते हैं और साथ ही आ जाते हैं इंगित, आकार, मुस्कराना, भृकुटि आदि। ये सब मिलकर अर्थ का निश्चय करते हैं।

अन्योक्ति का अर्थ केवल प्रसंग के समझने से निकलता है, अन्यथा वह पागल का प्रलाप मालूम होगी, यथा—

> रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
> मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैकादृशाः।
> केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति पृथिवीं गर्जन्ति केचिद्वृथा
> यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

कोई कवि चातक को सम्बोधन करके कह रहा है। हे मित्र चातक, सावधान चित्त से जरा मेरी बात सुनो। आकाश में बहुत से बादल रहते हैं, पर सब एक तरह के नहीं। कुछ तो बारिश करके जमीन को भिगो देते हैं, और कुछ बेकार गरजते हैं। जिस-जिसको देखो उस-उसके सामने दीन वचन न बोलो।

इस पद्य में कवि ने चातक को सलाह दी है, पर क्या चातक उसकी बात समझ सकता है? फिर यदि उस पक्षी को लक्ष्य करके अपनी बात कहता तो पागल ही गिना जाता। स्पष्ट है कि वह चातक के बहाने उन दरिद्र माँगनेवालों से कह रहा है जो हरएक के आगे हाथ फैलाते फिरते हैं। कवि उनसे कहता है कि जरा मनस्वी और स्वाभिमानी बनो। माँगना ही है तो उनसे माँगो जिनमें दान देने की सामर्थ्य है।

अन्योक्ति का प्रसिद्ध उदाहरण कवि बिहारीलाल का प्रसिद्ध दोहा है—

> **नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।**
> **अली कली ही सों बिंध्यो आगे कवन हवाल॥**

भ्रमर के बहाने कवि ने अपने संरक्षक महाराजा के ऐसी चुटकी काटी कि वह फड़क उठे और अपने कर्तव्य का पालन करने लगे।

इस प्रकार प्रसंग अपने विविध अंगों से शब्द के अनिश्चित अर्थ को निश्चित करता है। अगले व्याख्यान में इस बात पर विचार किया जायगा कि शब्द के ऊपर अर्थ कब और कैसे जगता है।

---

३. अर्थभेद और उसके उदाहरण

पहले व्याख्यान में अर्थ के विषय में यह कहा गया है कि अर्थ धातु-प्रत्यय से जो सिद्ध होता है वही नहीं है, अर्थ प्रवृत्ति से जमता है। विश्वनाथ (साहित्यदर्पणकार) कहते हैं—

अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्।

अर्थात् व्युत्पत्ति से शब्दों का एक अर्थ सिद्ध होता है, प्रवृत्ति से दूसरा। प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलकर व्युत्पत्ति बताते हैं, यथा **आर्यत्व** शब्द में **आर्य** प्रकृति है और **त्व** प्रत्यय। दोनों मिलकर अर्य के भाव, सज्जनता, कुलीनता आदि का परिचय देते हैं। यह अर्थ व्युत्पत्ति से सिद्ध हुआ। **गौः** शब्द में **गम्** धातु प्रकृति है और **ओ** प्रत्यय है। इस व्युत्पत्ति से **गौः** शब्द का अर्थ जानेवाली, चलनेवाली सिद्ध होता है। पर यह व्युत्पत्तिवाला **गौः** शब्द का अर्थ लोकव्यवहार में प्रचलित नहीं। इस शब्द के गाय, वाणी, पृथिवी, दिशा ये अर्थ प्रचलित हैं। ये अर्थ प्रवृत्ति से आये। इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि व्युत्पत्तिवाला एक अर्थ हो सकता है और प्रवृत्ति या प्रयोग से उसी शब्द का दूसरा अर्थ प्रचलित हो सकता है।

प्रवृत्ति के बारे में विचार करना है। बच्चा जब शब्दों का अर्थ समझने लगता है, उस समय उसकी मनःशक्ति बड़ी तेज गति से आवाप-उद्वाप अथवा अन्वय-व्यतिरेक के साधनों से काम करती है। वह अपने से अधिक उमरवाले जनों को भाषा का प्रयोग करते देखता है, उन शब्दों से उन अर्थों का सम्बन्ध उसके मन में

बैठ जाता है। जब फिर कभी वह उन शब्दों को सुनता है तो उनके अर्थ उसके मन में जागृत हो जाते हैं। अथवा जब उन शब्दों द्वारा निर्दिष्ट व्यक्तियों और पदार्थों को देखता है तो वे शब्द उसके मन में आ जाते हैं। यह क्रिया निरन्तर उसके मस्तिष्क में हुआ करती है।

दूसरों के शब्द-व्यवहार को देखकर बच्चा ज्ञान का जो अंश ग्रहण करता है, उसके अलावा उसे बराबर साक्षात् उपदेश मिला करता है। अर्थ के ग्रहण कराने में यह उपदेश कम महत्त्व का नहीं है। यदि किसी बच्चे के सामने **सन्तरा** शब्द का व्यवहार हुआ और उसको इस शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं है तो वह पूछता है—'सन्तरा किसे कहते हैं?' यदि सन्तरा कहीं पास हुआ तो उसे लाकर दिखा दिया, उसे ज्ञान हो गया। यदि पास नहीं हुआ तो उसका विवरण देकर समझाने की कोशिश की जाती है, 'सन्तरा फल होता है, गोल, लाल-पीले रंग का, स्वाद में मीठा,' इत्यादि। समझाने के लिए अन्य द्रव्यों और गुणों का सहारा लिया जाता है, कारण-कार्य-भाव समझाया जाता है। बच्चा अपनी बुद्धि के विकास के अनुसार इन बातों को समझता है। हर एक बच्चा इस प्रकार के उपदेश के सर्वांश को समझता हो, ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी वह ग़लत भी समझ जाता है। बहुत-सी बातें वह बरसों तक ठीक-ठीक नहीं समझ पाता।

अर्थ-ग्रहण का यह क्रम जिन्दगी भर जारी रहता है। जीवन भर हम अपनी प्रतिभा-शक्ति से शब्दों के अर्थों का ग्रहण करते हैं और इसकी मदद साक्षात् उपदेश करता रहता है। उपदेश देने के लिए ही विद्यालय, अजायबघर, चिड़ियाघर आदि खुले हुए हैं।

बच्चा सर्वप्रथम अपने निकटतम और स्थूलतम पदार्थों का ग्रहण

करता है। व्यक्तियों में जो उसके पास प्रायः निरन्तर रहती है और उसकी क्षुधा आदि अन्य मांगों की पूर्ति करती है उसका ज्ञान वह पहले-पहल प्राप्त करता है. और पदार्थों में वह दूध या उस पदार्थ का जिससे दूध मिलता है, यानी मा के स्तन का या दूध का शीशी का, धीरे-धीरे उसे बोध होता है, घर के अन्य लोगों का, मुँह, नाक, कान आदि अंगों का, बिल्ली-कुत्ते आदि घर में पले पशु-पक्षियों का। दाल-भात आदि भोजन के पदार्थों का, लघुशंका, दीर्घशंका आदि आवश्यक दैनिक क्रियाओं का। परिवार के व्यक्तियों में बच्चे की समझ में यह बात नहीं आती कि एक ही व्यक्ति कैसे कभी पापा, कभी चाचा, कभी मामा, कभी फूफा कहलाता है। या वह व्यक्ति जिसे वह मा कहता है उसे कोई कहता है चाची, कोई ताई, कोई मामी, कोई बुआ। बच्चे की समझ में यह नहीं आता कि वह मा को चाची कहे या बुआ, या अपने पिता को चाचा कहे या दादा, या बाबूजी या पंडितजी। नतीजा यही होता है कि किसी व्यक्ति का जो नाम अधिक प्रचलित होता है, बच्चे के दिमाग़ में उसका वही नाम टिक जाता है। कई घरों में बच्चे मा को भाभी कहते हैं या भौजी। किसी घर में मा को चाची या बहूजी कहते हैं। पिता को भी कोई दादा, कोई कक्का, कोई चाचा कहते हैं। बहुतेरे घरों में पिता का नाम बाबूजी है। ऐसे घर विरले होते हैं जिनमें उपदेश और नियन्त्रण इतना प्रबल है कि बच्चे मा को मा कहें या पिता को पिताजी या बापू या बप्पा। ये नाम बच्चा तब ग्रहण करता है जब उसकी समझ में इन सम्बन्धवाची शब्दों का निश्चित अर्थ आ जाता है। उत्तर भारत में बहुओं को जब अपने श्वसुर का सम्बोधन करने की ज़रूरत होती थी तब वे उसे 'आर्य' कहती थीं। इसी से बच्चा भी अपने पितामह को आ'

कहने लगा, और आज हिन्दी बोलियों में आजा और आजी शब्द पितामह और पितामही के द्योतक हैं। मेरे साले का लड़का अशोक (बच्चू) जो केवल दो साल का है, इधर कई महीने तक हमारे परिवार में रहा। उसके साथ यहाँ उसके पितामह रहे, मा-बाप नहीं। नतीजा यह है कि वह मुझे बाबूजी और श्रीमतीजी को भाभी कहता है। बार-बार उसे फूफा और बुआ का उपदेश दिया गया, पर ये दो शब्द उसके दिमाग़ में हम दोनों के लिए नहीं जमे. जमे हैं हमारे बच्चों द्वारा प्रयुक्त बाबूजी और भाभी। बहुत सम्भव है कि आगे चलकर समझ आने पर वह उचित शब्दों, फूफा-बुआ का इस्तेमाल करे, पर इस समय की स्थिति यही है।

बच्चों को समयसूचक शब्दों—आज, कल, परसों, इतवार, सोमवार, हफ्ता, मास, साल आदि के अर्थ का ज्ञान बहुत दिन बाद होता है। एक बार होली, दशहरा, दिवाली आदि उत्सवों के हँसी-खेल, रौनक, पकवान का अनुभव करके बच्चा आये दिन समझता है कि कल होली होगी या दिवाली। उसको जन्म-दिन के उपलक्ष में उपहार मिलते हैं। उसको साल भर तक यह समझाते रहना कि तुम्हारा जन्म-दिन साल भर बाद आयेगा, बड़ा कठिन होता है। जहाँ दूसरे किसी बच्चे का जन्म-दिन आया कि वह समझ लेता है कि उसका भी आ गया।

बच्चों को जब तक वे सात-आठ साल के नहीं हो जाते, ब्याह-शादी के मूल तत्त्व का ज्ञान नहीं होता, लड़के दूल्हे बनते हैं और लड़कियाँ बहुएँ। ये इस तरह अभिनय कर लेते हैं, पर ब्याह-शादी का मतलब उनके दिमाग़ में बाजा-गाजा, रौनक, नये कपड़े आदि ही होता है। किसी छोटे बच्चे से यदि मा पूछती है कि

लल्ला तुम किससे शादी करोगे तो वह कहता है तुमसे या बहुत बुद्धिमान् हुआ तो अपनी बड़ी बहिन जिसके साथ वह खेलता है उसका नाम लेता है। इसी तरह छोटी बच्ची अपने पिता या भाई से व्याह करने को कहेगी। इसी तरह मरने का ठीक ज्ञान बच्चे बहुत दिनों बाद पकड़ पाते हैं। मरण का अवश्यंभावी परिणाम अभाव है, यह उनकी समझ में नहीं आता। मेरी मा का देहान्त जिस समय हुआ, उस समय मेरी ज्येष्ठ पुत्री प्रीति साढ़े पाँच साल की थी। मरने के बारे में उसने कुछ भाव अपने मन में बना रक्खे थे, पर जब नौकरों द्वारा उसने उनके अग्नि-संस्कार की बात सुनी, तो घंटों रोती रही और उसकी समझ में ही यह न आता था कि उन्हें जला क्यों दिया गया। जितना ही सूक्ष्म विचार होता है उतना ही उसका वास्तविक अर्थ, सीखनेवाले के दिमाग़ में देर से आता है। जितना ही स्थूल और इन्द्रियों के निकट का ज्ञान होता है, उतना ही अर्थ जल्दी पकड़ में आता है। यह क्रम निरन्तर जारी रहता है। ऊपर कह आये हैं कि शब्द अनन्त हैं, सम्पूर्ण शब्द-भंडार का ज्ञान किसी को नहीं हो पाता।

मनुष्य के दिमाग़ में शब्दों का जो अर्थ जमता है, वह सर्वांश में कभी स्थिर नहीं हो पाता। उसके अनुभव के अनुसार प्रत्येक शब्द से जतलाया हुआ अर्थ घटता-बढ़ता रहता है। यह बात कुछ मिसालों को देखने से स्पष्ट हो जायगी। **गाय** को ही लीजिए। बच्चा अपने घर की देशी गाय को देखता है। मान लीजिए कि वह काली है। वह उसकी आकृति के साथ काले रंग का साहचर्य आवश्यक समझता है। ज़रा बड़ा होने पर वह गाँव की दूसरी गायें देखता है. कोई सफ़ेद, कोई लाल, कोई चितकबरी। उसको बोध होता है कि गाय काली ही नहीं होतीं, दूसरे रंगों की भी हो सकत

की **क़लम** से लिखना शुरू करता है थोड़ा आगे बढ़ने पर (पेन) होल्डर उसके हाथ में आता है, सेंठे और नरकुल की क़लमें छूट जाती हैं। कालेज पहुँचते-पहुँचते वह **फ़ाउंटेनपेन** इस्तेमाल करने लगता है और उसका आदी हो जाता है। इस महायुद्ध के पूर्व फ़ाउंटेनपेन आठ-आठ आने के मिलने लगे थे। मान लीजिए कि स्वराज्य प्राप्त कर लेने पर हमारी समृद्धि इतनी बढ़े कि हरएक लड़का फ़ाउंटेनपेन ही से लिखने लगे, तब क़लम शब्द का अर्थ केवल यह फ़ाउंटेनपेन रह जायगा। सेंठे, नरकुल आदि की क़लमें सब ग़ायब हो जायँगी। शहरों में कम से कम ऐसा हो जाने की बहुत कुछ सम्भावना है। एक समय चिड़ियों के परों की क़लमें बनती थीं। जर्मन और फ्रेंच भाषाओं में क़लम शब्द के लिए ऐसे शब्द हैं जिनका असली अर्थ है पर। लेकिन आज कितने मनुष्य हैं जिनको इस बात का ज्ञान है कि लेखनी का कभी चिड़िया के पर से भी कोई सम्बन्ध रहा है। गान्धीजी के प्रथम (१९२०-२२) असहयोग आन्दोलन के पूर्व कितने ही हिन्दुस्तानियों ने **चर्ख़ा** देखा ही न था, उनके शब्द-कोष से वह शब्द ही ग़ायब हो गया था। और एक-दो पीढ़ी पूर्व वह कितना प्रचार में था। आटा पीसने की **चक्की** गाँवों में होती है जो हाथ से चलती है। इसे **जाँता** भी कहते हैं। पर शहरों में अधिकतर इंजन से चलनेवाली चक्की होती है। इसे **मिल** भी कहते हैं। पहाड़ी प्रदेशों में जहाँ नदियों के बहाव में तीव्रगति है, पनचक्कियाँ भी होती हैं। ये भी चक्की शब्द से पुकारी जाती हैं। अब शहरवाला चक्की शब्द से मिल का, गाँव-वाला जाँता का तथा पहाड़ी प्रदेशवाला पनचक्की का अर्थ लेगा। दूसरा **अर्थ** जानने पर भी हरएक के दिमाग़ में अपने अनुभव का अर्थ निकटतम होने के कारण प्रधान स्थान ग्रहण करेगा। भविष्य में

समृद्धि अधिक होने पर संभावना यही जान पड़ती है कि जाँता और पनचक्की, मशीनवाली चक्की की प्रतिस्पर्धा में टिक न सकेंगी और उनका इस्तेमाल समाप्त हो जायगा और चक्की शब्द का अर्थ केवल मशीनवाली चक्की रह जायगा, अथवा चक्की शब्द ही गायब हो जायगा और मिल उसकी जगह ले लेगा।

विज्ञान-सम्मत दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक व्यक्ति के शब्दों का अर्थ दूसरे व्यक्ति के अर्थों से भिन्न होता है। ऊपर चक्की शब्द का उदाहरण दिया गया है। उसका शहर के आदमी के मन में एक अर्थ, गाँववाले के मन में दूसरा और पहाड़ी प्रदेशवाले के मन में तीसरा अर्थ मिलेगा। आदमी के अनुभव और ज्ञान के ही अनुकूल प्रत्येक शब्द का अर्थ उसके दिमाग़ में रहता है। अल्लाह शब्द का जो अर्थ मुल्ला के दिमाग़ में है, उससे बहुत भिन्न क़ुरान-शरीफ़ से अपरिचित साधारण भारतीय मुसलमान के दिमाग़ में होगा। **परमेश्वर** की जो भावना वेदान्ती के मस्तिष्क में है वह नैयायिक के मन में नहीं, और जो नैयायिक के मन में है, वह साधारण अपढ़ हिन्दू के मन में नहीं। **गंगाजी** की जो पवित्रता पौराणिक मतावलम्बी हिन्दू के मन में होती है, संभव है कि उसका कुछ अंश आर्यसमाजी के मन में हो (मुसलमान के दिमाग़ में तो बिल्कुल नहीं), पर गंगाजी की शक्तिमत्ता आर्य-समाजी के मन में बिल्कुल नहीं होती। **विधवा** शब्द के उच्चारण करते ही उच्च-जातीय हिन्दू के मन में जो पवित्रता, दैन्य, प्राञ्जलता और सौम्यता का चित्र खिंच जाता है उसका ज़रा भी नीची जात-वाले हिन्दुओं के मन में अथवा ईसाई मुसल्मानों के दिमाग़ में नहीं आता जिनके यहाँ विधवा का पुनर्विवाह हो जाना साधारण बात है।

इस तरह हर एक शब्द का अर्थ जो एक व्यक्ति के मन में है वह दूसरे के मन में नहीं। ऊपर के उदाहरण भेद की स्थूलता के द्योतक हैं। जितनी ही स्वभाव, रहन सहन, शिक्षा दीक्षा, देश काल की समानता होगी, भेद की मात्रा उतनी ही कम होगी, और जितनी ही विभिन्नता होगी, भेद की मात्रा उतनी ही बढ़ती जायगी। इसी लिए विज्ञान की दृष्टि से किसी शब्द का अर्थ स्थिर नहीं। दूसरों की बात क्या कही जाय। मनुष्य के अपने ही विचार किस मात्रा में बदलते रहते हैं, उसका उसे स्वयं ज्ञान नहीं होता। कालेज होस्टेल में पहली बार दाखिल होनेवाला विद्यार्थी छुआछूत, सफ़ाई आदि के कट्टर विचार रखता है। धीरे २ उसके ये विचार बदलते जाते हैं और साल दो साल बाद जो नवागन्तुक होस्टेल में आते हैं उनका वह भी बड़ी बेदर्दी से मज़ाक़ उड़ाता है। उस समय उसके ध्यान में नहीं आता कि यही कट्टरता के विचार कभी उसके भी थे और जब उसका उपहास किया गया था तब उसे कितना बुरा लगा था। आधुनिक भारतीय जितना प्रगतिशील होता जाता है, छुआ छूत, भूत प्रेत, देवी देवताओं के बारे में ही नहीं, आचार्यों अध्यापकों, माता पिता आदि के विषय में उसके अधिकार और कर्तव्य विषयक विचार बदलते जाते हैं, और जब उसे अपने बुज़ुर्गों की ओर से कोई ठेस लगती है तो उस व्यक्ति को अचरज होता है। जब हम कोई बात किसी दूसरे के मुँह से सुनते हैं, तो उन शब्दों का वही अर्थ लगाते हैं जो हमारे मन में होता है। नतीजा यह होता है कि हम कहनेवाले के अभिप्राय को ठीक-ठीक नहीं पकड़ पाते। ग़लतफ़हमी हो जाती है। यह भ्रान्ति इसी कारण होती है कि कहनेवाले की विचारधारा की जो कड़ियाँ होती हैं

वह सुननेवाले के मन में ज्यों की त्यों नहीं आ पाती। न वक्ता की समझ में आता है कि ग़लतफ़हमी क्यों हुई और न श्रोता की। तभी ग़ालिब के अनुभव के साथ कभी-कभी हमारी भावना होती है—

या रब न वह समझे हैं न समझेंगे मेरी बात।
दे और दिल उनको जो न दे मुझको ज़ुबाँ और॥

इसी कारण हर्मन पाउल का निश्चित मत है कि विचारों का एक मनुष्य से दूसरे के पास संक्रमण होना असंभव है। हम अपने ही विचारों के अनुमान से निश्चय कर बैठते हैं कि दूसरे के विचार क्या हैं।

केवल शब्द इस प्रकार अर्थ का प्रकाश करने के लिए बहुत अपूर्ण साधन है। जब हम कहते हैं कि 'रामलाल धीरे २ बोलता है' तब इस वाक्य से एक तो यह बात स्पष्ट नहीं होती कि वह इसी समय धीरे बोलता है या धीरे बोलना उसका स्वभाव है, और इसका निर्णय प्रसंग की मदद से कर लेने पर भी यह साफ़ नहीं होता कि उसकी आवाज़ धीमी है या वह रुक-रुक कर बोलता है। ओग्डेन-रिचार्ड्स् ने शब्द की इस अपूर्ण द्योतकता पर बड़ा ज़ोर दिया है और बताया है कि शब्द के भाव को स्पष्ट और पूर्ण बनाने में इंगित बहुत काफ़ी मदद करता है। शब्दों को जब इंगित का सहारा नहीं मिलता तब वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इसी लिए बोलचाल लेख की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होती है।

भाषा के शब्दों की यह कमज़ोरी कि वे इस अर्थ की विभिन्नता का ठीक ठीक प्रतिपादन नहीं कर पाते बड़ा ग़ज़ब ढाती है। पुरुषसूक्त में पुरुष का चित्र खींचते हुए कवि ने कहा—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

यहाँ **सहस्र** शब्द का सीमित अर्थ सहस्र (दससौ) नहीं था, पर बाद की पीढ़ियों ने उसका सीमित ही अर्थ करके इन्द्र की गाथा ही रच ली कि उसके हजार आँखें हैं और किसी कारण से पैदा हुईं। संभव है इस पौराणिक गाथा में ही कुछ ऐसा अलंकारिक अर्थ हो जिसका हमें आज बोध नहीं होता और हम इन्द्र-अहल्या आख्यान को वास्तविक सत्य मान बैठे हैं। इसी तरह हमारे देवता बहुमुख बताये गये हैं। ब्रह्मा **चतुरानन** हैं, शिव **पञ्चानन** और स्कन्द **षडानन**। ये आदरणीय देव ऐसे बीभत्स रूप वाले रहे होंगे, या उनका इस प्रकार होना सृष्टि के नियमों के अनुकूल है, यह विश्वास करना अपनी बुद्धि की हँसी उड़वाना है। इसी तरह यह निश्चय समझना चाहिए कि राक्षसों के **त्रिमूर्धा** और **दशग्रीव**, **हयग्रीव** आदि रूप तथा गणेश का **गजानन** रूप, सभी कल्पना जगत् की चीजें हैं। इन कल्पनाओं का अभिप्राय हम आज भूल गए हैं और इसी लिए कुछ का कुछ समझ बैठे हैं। **नाग** शब्द का अर्थ आज साँप है, इसी को सर्वथा अकेला ही उस शब्द का अर्थ मानकर हम समझते हैं कि परीक्षित को साँप ने डँस लिया था और जन्मेजय के यज्ञ में साँप आ आकर गिरकर मरने लगे थे। पर अब यह निश्चित सा ही है कि नाग-एक विशेष जाति थी, जो वर्तमान मध्यप्रान्त आदि में किसी समय बसी हुई थी। इस जाति के मनुष्यों के उत्तराधिकारी आसाम के जंगली प्रदेशों में रहने वाले नागा लोग हो सकते हैं। नागपुर आदि नाम इन्हीं लोगों के सम्बन्ध से पड़े होंगे। रामायण में **वानरों** का उल्लेख है, और उनमें से किसी किसी ने व्याकरण का अच्छा अभ्यास किया था और संस्कृत वाणी

बोलता था। निश्चय है कि ये लोग मनुष्य थे, बन्दर नहीं थे। मगर आज हिन्दू जनता उन महापुरुषों को बन्दर समझती है। आप देखते ही होंगे कि रामलीला के अभिनय के समय सुग्रीव, हनुमान आदि के मुँह पर मिट्टी या पीतल का बना हुआ मुँह बाँध दिया जाता है। यक्ष, किन्नर, किरातों की भी इसी तरह समीक्षा हो सकती है। इन उदाहरणों में हमने देखा कि एक समय में प्रयुक्त शब्द का हमने दूसरे समय में दूसरा अर्थ ले लिया और अर्थ का अनर्थ कर डाला।

वेद में **अराति** शब्द का अर्थ 'प्रथम केवल न देनेवाला, अदाता' था। बाद को इसका अर्थ दुश्मन हो गया। मित्र का एक गुण समय पर देना है, भर्तृहरि ने भी कहा है **'आपत्सु रक्षति च ददाति काले'**। जो नहीं देता वह दुश्मन। इस प्रकार अर्थ थोड़े ही दिनों बाद बदल गया। ग्रीक और लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में 'दुष्ट' और 'दुखी' इन भावों को प्रकट करने के लिए एक ही शब्द है, ऐसा ब्रील का कथन है। यदि सोचा जाय तो यह उचित ही है कि जो दुष्ट है वह दुखी रहे, पर प्रत्येक दुखी जन दुष्ट हो या प्रत्येक दुष्ट जन दुखी हो, यह हमारे वर्तमान अनुभव के प्रतिकूल है।

ये सारे उदाहरण कालभेद से अर्थभेद के हैं। स्थानभेद से भी एक ही शब्द (या उसके प्रतिबिम्ब विदेशी शब्द) का भिन्न अर्थ हो सकता है। अवध के जिस (पच्छिमी) भाग में मैं लड़कपन तक रहा उसमें **चटनी** में खटाई का होना आवश्यक अंग था। इसलिए मेरे लिए चटनी आम की, इमली की, करौंदे आदि की ही थी। जब मैं अपने प्रदेश से भी पच्छिम प्रदेश रोहेलखंड आदि के निवासियों के सम्पर्क में आया तो मैंने देखा कि चटनी का खट्टी होना जरूरी नहीं है और धनिए या पुदीने की भी

चटनी हो सकती है। इस तरह अवध में चटनी शब्द का एक अर्थ और रोहेलखंड में दूसरा सिद्ध हुआ। बचपन में मैंने देखा था कि परिवार में जब कभी बालबच्चा होता था तो जो दाई आती थी उसे **धनकुनि** कहते थे। धनकुनि शब्द का अर्थ मेरे दिमाग़ में यही जम गया कि वह दाई होती है। बाद को बड़े होने पर मैंने देखा कि धनकुनि के परिवार के पुरुष बाँस की टोकरियाँ, गिलौरीदान आदि बनाते हैं। मैं समझा कि यह उनका गौण पेशा है। इधर जब भाषा-विज्ञान का अध्ययन किया तो पता चला कि **धानुक** का सम्बन्ध **धानुष्क** से है जिसका रोजगार धनुष-तीर बनाना था। अब धानुष्क के अर्थ की दाई के अर्थ से तुलना कीजिए, कितना अन्तर पड़ गया।

उपनिषदों में कथा आई है कि इन्द्र और विरोचन दोनों ने प्रजापति के पास जाकर कल्याण का मार्ग पूछा। प्रजापति ने उपदेश दिया कि आत्मा की उपासना करो (आत्मानमुपास्स्व)। विरोचन ने अपने शरीर का लालन-पोषण आरंभ किया, दूसरी ओर इन्द्र शरीर की नश्वरता समझकर फिर अपनी शंका मिटवाकर परम तत्त्व को पहुँच गए। एक आसुरी सभ्यता, प्रकृति की उपासना, के प्रतिनिधि हुए, दूसरे दैवी सम्पत्ति, ईश्वर की उपासना के प्रतिपादक हुए। यह **आत्मा** के विभिन्न अर्थों के अस्तित्व के कारण ही संभव हुआ होगा।

सतीत्व के बारे में भी स्थानीय सभ्यता और संस्कृति के अनुसार विभेद दिखाई पड़ता है। कुमायूँ में **नायक** जाति के लोग रहते हैं जो अपनी बहू-बेटियों से वेश्यावृत्ति कराते थे। इधर कुछ सुधार हो चला है और ये लोग भी बदल रहे हैं। संयुक्त प्रान्त में एक जाति **नट** कहलाती है। इस जाति के पुरुष अपनी स्त्रियों से गाना-

बजाना और वेश्यावृत्ति कराते हैं। इन नटों, नायकों के चित्त में स्त्री के सतीत्व की जो भावना है, वह आर्य-सभ्यता में परम निष्ठा रखनेवाले, ऊँची जाति के हिन्दू की भावना से कितनी भिन्न है ! जापान के जो वर्णन हम तक पहुँचे हैं, उनसे भी उस देश में कुछ इसी तरह का गोलमाल जान पड़ता है। यूरोपीय सभ्यता के जन-साधारण में विवाह के पूर्व के यौन अनुभवों को बहुत महत्त्व नहीं दिया जाता। हमारे यहाँ विवाहित या अविवाहित स्त्री का पर पुरुष द्वारा चुम्बन पाप समझा जाता है, यूरोप में माँ-बाप के सामने ही युवक-युवती परस्पर चुम्बन करते हैं और इसको बुरा नहीं समझा जाता। निष्कर्ष यह कि चुम्बन का जो भाव एक भारतीय के मन में है वह यूरोपवासी के मन के भाव से बहुत कुछ भिन्न है। ब्रह्मचर्य का भी भाव इसी तरह दोनों सभ्यताओं में भिन्न है।

भारत में खुले में नहाने की सर्वसाधारण में प्रथा है। बहुत कम घरों में गुसलखाने होंगे। तीर्थों पर विशेष रूप से यह दिखाई पड़ता है। पर्वों पर ढेर के ढेर स्त्री-पुरुष नहाते रहते हैं, किसी को इस बात में विलक्षणता नहीं दिखाई पड़ती। यहाँ तक कि पंजाबी स्त्रियाँ हरिद्वार आदि में बिलकुल नंगी नहाती हुई देखी गई हैं। यूरोपीय सभ्यता में पले हुए मनुष्य को यह बात विलक्षण और असभ्य दिखाई पड़ती है। अनुमान होता है कि जिस समय की कृष्ण-लीलाओं का, भागवत में वर्णन है उस समय मथुरा में भी गोपियाँ नंगी होकर यमुनाजी में नहाया करती थीं। इस प्रथा का अन्त करने के लिए ही बाल श्रीकृष्ण उनके चीर लेकर वट वृक्ष पर चढ़ गए थे और गोपियों के इस आश्वासन के पाने पर ही कि वे अब कभी नंगी न नहायेंगी, उनके चीर वस्त्र श्रीकृष्णजी ने वापस किये थे।

आर्य-सभ्यता में स्वजातीय या परजातीय कोई भी वैरी हो उसके प्रति समान व्यवहार का विधान था। राजपूत जब अपने शत्रु दूसरे राजपूत से लड़ता था तो जो युद्ध के नियम वह इस राजपूत वैरी के साथ वर्तता था, वही नियम वह अरबी, तुर्की या मुग़ल दुश्मन के साथ निभाता था। पर सामी सभ्यता में ऐसा न था। हजरत मूसा के समय से ही स्वजातीय पड़ोसी या वैरी के साथ एक विधान था और विजातीय के साथ दूसरा। इसी का परिणाम था कि मौलाना मुहम्मदअली मरहूम ने कहा था कि मैं महात्मा गान्धी की बड़ी इज्जत करता हूँ मगर बुरे से बुरे मुसल्मान को उनसे इस वजह से बेहतर समझता हूँ कि वह मुसल्मान है।

इस तरह भिन्न देशों और समाजों में शब्दों के भिन्न भिन्न अभिप्राय होते हैं। हर मनुष्य के पास उसका विचार-समूह होता है। यही विचार-समूह उसकी क्रियाओं का शासन करता रहता है। उसके इन विचारों की दूसरे मनुष्य की निकटता के अनुपात से समानता होती है, पर एकरूपता नहीं हो सकती। एक ही मनुष्य का विचार-समूह उसके अनुभव के अनुसार जान और अनजान में घटता बढ़ता और बदलता रहता है यह भी ध्रुव सत्य है।

ऊपर शब्द के अर्थ की विभिन्नता का विशद विवरण दिया गया है। हर एक भाषा में थोड़े बहुत मिलते जुलते अर्थोंवाले शब्दों की संख्या बराबर बढ़ती रहती है। धीरे-धीरे अर्थ की यह आंशिक विभिन्नता भूलती जाती है और वे सभी शब्द एकार्थी हो जाते हैं। इन्द्र, पुरुहूत, पुरन्दर और शतक्रतु सभी शब्द आज प्रयोग में एकार्थी हैं पर किसी समय इनकी व्युत्पत्ति-जनित अर्थ-विभिन्नता का कुछ न कुछ आभास भाषा के प्रयोग में भी रहता होगा। संस्कृत कोषों को उठाकर देखिए। देव,

बजाना और वेश्यावृत्ति कराते हैं। इन नटों, नायकों के चित्त में स्त्री के सतीत्व की जो भावना है, वह आर्य-सभ्यता में परम निष्ठा रखनेवाले, ऊँची जाति के हिन्दू की भावना से कितनी भिन्न है! जापान के जो वर्णन हम तक पहुँचे हैं, उनसे भी उस देश में कुछ इसी तरह का गोलमाल जान पड़ता है। यूरोपीय सभ्यता के जन-साधारण में विवाह के पूर्व के यौन अनुभवों को बहुत महत्त्व नहीं दिया जाता। हमारे यहाँ विवाहित या अविवाहित स्त्री का पर पुरुष द्वारा चुम्बन पाप समझा जाता है, यूरोप में माँ-बाप के सामने ही युवक-युवती परस्पर चुम्बन करते हैं और इसको बुरा नहीं समझा जाता। निष्कर्ष यह कि चुम्बन का जो भाव एक भारतीय के मन में है वह यूरोपवासी के मन के भाव से बहुत कुछ भिन्न है। ब्रह्मचर्य का भी भाव इसी तरह दोनों सभ्यताओं में भिन्न है।

भारत में खुले में नहाने की सर्वसाधारण में प्रथा है। बहुत कम घरों में गुसलखाने होंगे। तीर्थों पर विशेष रूप से यह दिखाई पड़ता है। पर्वों पर ढेर के ढेर स्त्री-पुरुष नहाते रहते हैं, किसी को इस बात में विलक्षणता नहीं दिखाई पड़ती। यहाँ तक कि पंजाबी स्त्रियाँ हरिद्वार आदि में बिलकुल नंगी नहाती हुई देखी गई हैं। यूरोपीय सभ्यता में पले हुए मनुष्य को यह बात विलक्षण और असभ्य दिखाई पड़ती है। अनुमान होता है कि जिस समय की कृष्ण-लीलाओं का, भागवत में वर्णन है उस समय मथुरा में भी गोपियाँ नंगी होकर यमुनाजी में नहाया करती थीं। इस प्रथा का अन्त करने के लिए ही बाल श्रीकृष्ण उनके चीर लेकर वट वृक्ष पर चढ़ गए थे और गोपियों के इस आश्वासन के पाने पर ही कि वे अब कभी नंगी न नहायेंगी, उनके चीर वस्त्र श्रीकृष्णजी ने वापस किये थे।

आर्य-सभ्यता में स्वजातीय या परजातीय कोई भी वैरी हो उसके प्रति समान व्यवहार का विधान था। राजपूत जब अपने शत्रु दूसरे राजपूत से लड़ता था तो जो युद्ध के नियम वह इस राजपूत वैरी के साथ वर्तता था, वही नियम वह अरबी, तुरकी या मुग़ल दुश्मन के साथ निभाता था। पर सामी सभ्यता में ऐसा न था। हज़रत मूसा के समय से ही स्वजातीय पड़ोसी या वैरी के साथ एक विधान था और विजातीय के साथ दूसरा। इसी का परिणाम था कि मौलाना मुहम्मदअली मरहूम ने कहा था कि मैं महात्मा गान्धी की बड़ी इज़्ज़त करता हूँ मगर बुरे से बुरे मुसल्मान को उनसे इस वजह से बेहतर समझता हूँ कि वह मुसल्मान है।

इस तरह भिन्न देशों और समाजों में शब्दों के भिन्न भिन्न अभिप्राय होते हैं। हर मनुष्य के पास उसका विचार-समूह होता है। यही विचार-समूह उसकी क्रियाओं का शासन करता रहता है। उसके इन विचारों की दूसरे मनुष्य की निकटता के अनुपात से समानता होती है, पर एकरूपता नहीं हो सकती। एक ही मनुष्य का विचार-समूह उसके अनुभव के अनुसार जान और अनजान में घटता बढ़ता और बदलता रहता है यह भी ध्रुव सत्य है।

ऊपर शब्द के अर्थ की विभिन्नता का विशद विवरण दिया गया है। हर एक भाषा में थोड़े बहुत मिलते जुलते अर्थोंवाले शब्दों की संख्या बराबर बढ़ती रहती है। धीरे-धीरे अर्थ की यह आंशिक विभिन्नता भूलती जाती है और वे सभी शब्द एकार्थी हो जाते हैं। इन्द्र, पुरुहूत, पुरन्दर और शतक्रतु सभी शब्द आज प्रयोग में एकार्थी हैं पर किसी समय इनकी व्युत्पत्ति-जनित अर्थ-विभिन्नता का कुछ न कुछ आभास भाषा के प्रयोग में भी रहता होगा। संस्कृत कोषों को उठाकर देखिए। देव,

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सिंह, पक्षी आदि शब्दों में से एक एक के दस दस बीस बीस पर्यायवाची शब्द हैं। इन एकार्थी शब्दों का सर्वांश में एक ही अर्थ रहा हो यह संभव नहीं। काल-भेद से हम अर्थ भूलते गए, या यूँ कहना चाहिए कि अर्थ के सूक्ष्म भेदों को भूलते गए, और आज उन सारे शब्दों को एकार्थी समझते हैं। **अश्व, तुरग, वाजी, हय** सभी शब्द **'घोड़ा'** का बोध कराते हैं और कोष में पर्यायवाची दिए हुए हैं। पर अवश्य ही इनके प्रयोग में कुछ न कुछ अन्तर रहा होगा। **नगर, पुर, पत्तन,** सभी शहर के वाचक हैं और इन में विदेशी शब्द **'शहर'** भी आकर मिल गया। इन शब्दों के अर्थ में भी कुछ न कुछ अन्तर रहा होगा। **राजा** के लिए कई शब्द आये हैं, पर उनमें से कोई छोटे **नरेशों** के लिए, कोई मंडलाधीशों के लिए, कोई चक्रवर्तियों के लिए इस्तेमाल में आते होंगे, आज हम उन भेदों को भूल गए हैं। सिंह के लिए **बाघ, चीता, तेंदुआ, शेर** ये शब्द व्यवहार में आते हैं और आज भी इनका भेद समझा जा सकता है, पर कोष में ये पर्यायवाची मिलेंगे। हंस के विषय में अमरकोष कहता है—

> **हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गाः मानसौकसः।**
> **राजहंसास्तु ते चंचुचरणै र्लोहितैः सिताः।**
> **मलिनैर्मल्लिकाक्षास्ते।**

हंस पक्षी सफ़ेद डयनोंवाले, चक्र के से शरीरवाले (गोल), मानसरोवर में रहनेवाले हैं। **राजहंसों** का सारा शरीर श्वेत होता है चोंच और चरण लाल होते हैं, **मल्लिकाक्षों** की चोंच और चरण मैले होते हैं। कोष में हंस, राजहंस और मल्लिकाक्ष के बारे में दिया हुआ यह भेद बहुधा साहित्य में भुला दिया जाता है।

जैन आगम ग्रन्थों में बराबर यह वचन आते हैं 'तेणंकालेणं तेणंसमयेणं' अर्थात् 'उस काल, उस समय'। आज हिन्दी के प्रयोग में दोनों शब्द काल और समय सर्वथा पर्यायवाची हैं, पर प्राचीन काल में ऐसा नहीं था।

एकार्थी शब्द भाषा में एक तो अर्थों के सूक्ष्म भेदों के भूल में पड़ जाने से इकट्ठे होते हैं, दूसरे अन्य भाषाओं के सम्मिश्रण से। हिन्दी में **पुस्तक-किताब, समाचार-पत्र अखबार, सम्बन्ध-रिश्ता, पिता-बाप-वालिद, बालबच्चा-आलऔलाद, लेखनी-क़लम, मधु-शहद, चिट्ठी-पत्री-ख़त, बिछौना-बिस्तर, दियासलाई-माचिस, चित्र-तस्वीर, द्वार-दर्वाज़ा, पेटी-बकस, समय-वक़्त-टाइम, डाकघर-डाकख़ाना-पोस्टआफ़िस, कार्यालय-दफ़्तर-आफ़िस, कचहरी-कोर्ट,** आदि आदि कितने ही जोड़ी के शब्द हैं जिनमें से एक प्रयोग में लाइए या दूसरा (या तीसरा) अर्थ में जरा भी अन्तर नहीं पड़ता।

हर्मन पाउल का निश्चित मत है कि किसी सुसम्बद्ध गठी हुई बोली की बोलचाल में उन शब्दों का अर्थ-भेद मौजूद रहता है जो कालान्तर में रहनेवालों या स्थानान्तर में बसनेवालों की नजर से ओझल रहता है। ऊँचे साहित्य में, विशेषकर काव्य में, शैली की मनोरंजकता के लिए एक ही शब्द बार बार नहीं दुहराया जाता। इसीलिए एक ही विचार या भाव को व्यक्त करने के लिए साहित्यकार को और विशेषकर कवि को कई शब्दों की जरूरत पड़ती है। कवि को तुक, अलंकार, अनुप्रास, लय आदि लाने के लिए अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा और भी एकार्थ शब्दों की आवश्यकता होती है। वह इन शब्दों को प्रचलित भाषा से ही लेता है, बहुत कम वह नए शब्द गढ़ता है। नतीजा

यह होता है कि जो शब्द जनसाधारण के प्रयोग में थोड़े बहुत भेद के द्योतक थे वे सब के सब साहित्य में एकार्थी हो जाते हैं। साहित्यिक भाषा में ये एकार्थी शब्द डटे रहते हैं, पर बोलचाल की भाषा में यदि कोई विभिन्नार्थी शब्द एकार्थी हो गए तो उनमें से केवल एक ही टिक पाता है। इसीलिए भाषा-विज्ञानी के अन्वेषण कार्य के लिए बढ़िया से बढ़िया काव्य-साहित्य की अपेक्षा ग्राम-गीतों और ग्राम-कहानियों का अधिक महत्त्व है। इसी दृष्टि से भाषा-विषयक अध्ययन के लिए, साहित्य के अन्तर्गत होते हुए भी, पंचतन्त्र और जातक का महाकाव्य की अपेक्षा अधिक मूल्य है। बोलचाल में यदि एक से अधिक एकार्थी शब्द टिक जाते हैं तो बहुत जल्द उनमें अर्थ-भेद पैदा हो जाता है। इसका विवरण आगे दिया जायगा। यहाँ एक ही मिसाल काफ़ी होगी। संस्कृत **चूर्ण** शब्द के तीन रूप हिन्दी में मिलते हैं— **चूरन, चून** और **चूना**। **चूरन** वैद्यक वाला, पाचन क्रिया को मदद पहुँचाने का साधन है, **चून** आटा के अर्थ में आता है और **चूना** या तो पान में खाया जाता है या घर की दीवारों की पुताई के काम में आता है। वास्तव में हैं सभी **चूर्ण**, एक औषधियों का, दूसरा अनाज का और तीसरा पत्थर का।

सारांश यह कि अर्थ की विभिन्नता मौजूद है, चाहे समय को मापक मानकर देखा जाय चाहे देश को। यह भिन्नता बराबर जारी रहती है। अनेकार्थी शब्द एकार्थी होते हैं, एकार्थी अनेकार्थी। यह परिवर्तन अर्थ में जारी है। प्रवाहरूप से चला आ रहा है। वेद के वचन **जगत्यां जगत्** का एक उदाहरण मात्र है।

अगले व्याख्यान में पदार्थ और वाक्यार्थ पर विचार किया जायगा।

---

४. पदार्थ, वाक्यार्थ और शब्द-शक्तियाँ

व्याकरणकार हमें बताते हैं कि भाषा वाक्यों का समूह है और वाक्य पदों का। **वाक्य** सचमुच है क्या ? बातचीत करते समय दो आदमी अलग अलग अपने-अपने मुँह से कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। ये ध्वनियाँ समष्टिरूप से उनके विचारों की प्रतिनिधि हैं। जब एक बोलता होता है, तब दूसरा अधिकतर सुनता रहता है और जब वह बोलता है तब पहला सुनता है। पर यदि बात विवादास्पद होती है, और विचार ठंडे दिल से नहीं हो पाता, तब जब एक बोल रहा होता है, तभी दूसरा बीच में बोल उठता है, या कोई बात पूछ बैठता है। ऐसी दशा में पहला अपने वक्तव्य की धारा को बीच में रोककर, इस नई आई हुई बाधा या प्रश्न का सामना करता है, या अनुनय-विनय से अथवा जबरदस्ती बाधक को चुप करके अपनी बात पूरी करता है। इस तरह यह **वक्तव्य** या **बात** ही एक सम्पूर्ण अवयव है। यह वक्तव्य व्याकरणकार का एक वाक्य हो सकता है अथवा उसके कई वाक्य। जब आदमी बातचीत नहीं करता, केवल कोई वर्णन करता है या कोई कहानी कहता है, तब भी उसकी बात या वक्तव्य में व्याकरणकार के बहुतेरे वाक्य रहते हैं। लेखक यही बात लेख द्वारा प्रकट करता है। अपेक्षा-दृष्टि से बातचीत की 'बात' का परिमाण छोटा और वर्णन तथा कहानीवाली 'बात' का बड़ा होता है। इस तरह भाषा-विज्ञानी की दृष्टि से देखा जाय तो यह बात या वक्तव्य ही भाषा का अवयव है, वैयाकरण का वाक्य नहीं।

इस बात या वक्तव्य को साहित्यदर्पण में **महावाक्य** की संज्ञा दी गई है—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।
वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥ २।१।

वाक्यों का समूह हुआ महावाक्य और वाक्य हुआ ऐसा पद-समूह जिसमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति हो । **योग्यता** का अर्थ है पदार्थों में परस्पर बाधा का न रहना। **वह्निना सिंचति** (आग से सींचता है) को वैयाकरण वाक्य नहीं मानते, क्योंकि आग के अर्थ से सींचने के अर्थ की बाधा होती है, इसलिए इस वाक्य में योग्यता का अभाव है। **आकांक्षा** का अर्थ है सुननेवाले की जानकारी प्राप्त करने की इच्छा और इस इच्छा की शान्ति हो जाने तक पद एक ही वाक्य में समझे जायँगे। **'दूध'** मात्र कहने से श्रोता के मन में यह जानने की आकांक्षा रहती है कि दूध का क्या हुआ, वह गिर गया, नहीं मिला, फट गया, आ गया आदि तरह-तरह की शंकाएँ उसके मन में उठ सकती हैं, मगर यदि उसके साथ **'पी लो'** जोड़ दें तो सुननेवाले की ज्ञान-पिपासा तत्काल शान्त हो जाती है। दूसरी ओर यदि **'हाथी, घोड़ा, गाय'** ये शब्द बोले जायँ तो इनमें परस्पर आकांक्षा का कोई आश्रय नहीं। **आसत्ति** (निकटता) का मतलब है कि वाक्य के पद इतने निकट होने चाहिए कि एक पद का दूसरे से सम्बन्ध जोड़ने में व्यवच्छेद का अनुभव बुद्धि को न हो । यदि इस समय किसी ने कहा **'देवदत्त'** और फिर घंटे भर बाद बोला **'जाता है'** तो दोनों शब्द इतनी दूर हो गए कि ये एक ही वाक्य के अंग न बन सकेंगे।

वाक्य के लक्षण के तीनों शब्दों (योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति)

के बारे में शास्त्र में बहुत विवाद है और इनमें से हरएक शब्द का ऐसा विश्लेषण किया गया है जैसा दर्शन की कोटि में आता है। व्यावहारिक दृष्टि से इन तीनों की वाक्य के लिए जरूरत है। शास्त्रकारों का यह भी मत है कि वाक्य में पद-समूह का होना जरूरी नहीं, एक ही पद वाक्य हो सकता है। संस्कृत का **गच्छामि** (जाता हूँ) और हिन्दी का **जाओ** ये दोनों अलग अलग वाक्य हैं। पर इन एकपदी वाक्यों में कर्त्ता-पद छिपा हुआ है और प्रसंग से उसकी अनुवृत्ति होती है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से वाक्य में पद-समूह होना आवश्यक है। व्यासभाष्य में भी कहा गया है—

सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः। वृक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते।

अर्थात् सब पदों में वाक्य की शक्ति है। **वृक्ष** कहने से **है** की अनुवृत्ति हो जाती है।

पद का लक्षण साहित्यदर्पण में यह दिया हुआ है—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः।

अर्थात् प्रयोग के योग्य, दूसरों से न जुड़े हुए, एक अर्थ देने-वाले वर्णों को **पद** कहते हैं। प्रयोग के योग्य कहने से प्रत्यय-विहीन वर्ण-समूह पद नहीं हो सकता, यह मतलब है। वाक्य में अन्य भी वर्ण-समूह होंगे, उनसे, लक्षित वर्ण-समूह के वर्णों का अन्वय न हो, यह अनन्वित शब्द का अभिप्राय है। एकार्थ जतलानेवाले का मतलब है कि अर्थ की दृष्टि से भी अन्य वर्ण-समूहों के साथ इसका अन्वय न हो और ऐसे वर्णों का समूह न हो जो निरर्थक हैं; जैसे **क ख ग घ**। शास्त्रकार का यह भी मत है कि वर्ण-समूह का होना आवश्यक नहीं है, एक ही वर्ण अलग पद हो सकता है; **ओ३म्** के **अ उ म्** तीनों वर्ण अलग अलग अर्थ की दृष्टि से

तीन पद हैं। पर अधिकतर पद एकवर्णी नहीं होते, बहुवर्णवाले होते हैं।

पाणिनि ने **पद** का लक्षण **'सुप्तिङन्तं पदम्'** दिया है। संज्ञा के अनन्तर जुड़नेवाले प्रत्ययों की संज्ञा संस्कृत में **सुप्** है और धातु के बादवालों को **तिङ्** कहते हैं। इनमें का एक न एक प्रत्यय शब्द में जुड़ा होना चाहिए, तभी उसे पद कहेंगे। इस प्रत्यय के कारण ही वर्ण-समूह में साहित्यदर्पण में जिस योग्यता का उल्लेख है, वह आ जाती है। यह वैयाकरणों का मत है। इसीलिए ऐसे शब्दों में जिनमें पद बनाने के लिए कुछ भी विकृति नहीं आती, उनमें भी (जैसे **नदी, हुतभुक्** आदि) यहाँ तक कि अव्ययों (**उच्चैः, नीचैः, सुष्ठु, सम्प्रति**) तक में उसे प्रत्ययों की कल्पना करनी पड़ी है और साथ ही साथ उन प्रत्ययों से जो विकार पैदा होता, उसके तात्कालिक लोप की। महाभाष्य का स्पष्ट निर्णय है कि प्रकृति और प्रत्यय मिलकर अर्थ जतलाते है, अलग अलग नहीं।

देखिए—

न केवलेन वृक्षशब्देनार्थो गम्यते। केन तर्हि? सप्रत्ययकेन। न हि केवलेन प्रत्ययेनार्थो गम्यते। केन तर्हि?। सप्रकृतिकेन।

इससे यह निश्चय होता है कि सिद्ध शब्द की संज्ञा **पद** और असिद्ध की **शब्द** है।

किसी-किसी भाषा में पद ही पूरा वाक्य होता है अथवा वाक्य ही पूरा पद होता है। अमरीका के ग्रीनलैंड की एस्किमो भाषा ऐसी है। उदाहरण के लिए **'नधोलिनिन्'** लीजिए। एक वाक्यरूप यह एक ही पद है। इसका अर्थ है 'हमारे लिए डोंगी लाओ'।

बांटू, चीनी आदि भाषाओं में दो-दो शब्दों को मिलाकर ही बहुधा पद की सिद्धि करते हैं। चीनी भाषा में इ+फु का अर्थ हुआ 'वस्त्र' और फु+त्श का 'पिता'। कहीं-कहीं ये दो शब्द वाक्य में दूर भी जा पड़ते हैं, यथा फ्रेंच भाषा में **न पा** का अर्थ है 'नहीं'। ये दोनों अंश **ज़ न ले पा** व्यू (मैंने नहीं देखा) इस वाक्य में कितनी दूर हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर पद का यह लक्षण विज्ञान की वर्तमान खोज के अनुकूल होगा—

पद उस ध्वनि या ध्वनि-समूह को कहते हैं, जिसका वाक्य में भाषा की परम्परा के अनुसार सम्बन्धतत्त्व, अर्थतत्त्व अथवा उन दोनों के अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग होता है। यदि ध्वनि-समूह है तो एकत्र और कभी-कभी अनेकत्र उसके अंशों की स्थिति रहती है।

पद और वाक्य को इस प्रकार स्पष्ट समझ लेने के बाद पदार्थ और वाक्यार्थ पर विचार किया जाता है। **वाक्यार्थ** पर विचार करते हुए वाक्यपदीय में कहा गया है कि पदों का अलग-अलग अर्थ नहीं होता, सम्पूर्ण वाक्य में सभी पद लीन हो जाते हैं—

शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।

अर्थात् जब शब्द का ही विभाग नहीं होता तो वाक्य के पदों का ही अर्थ अलग अलग कहाँ हो सकता है। विशेषकर समास की संज्ञाओं में या व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में तो अलग अलग पदों का कोई अर्थ नहीं हो सकता—

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥

यानी जैसे **ब्राह्मणकम्बल** (ब्राह्मण के लिए जो कम्बल हो) में **ब्राह्मण** का कोई अर्थ नहीं, **कम्बल** का है, इसी तरह वाक्य में **देवदत्त** आदि शब्दों का वाक्यार्थ से अलग कोई अर्थ नहीं होता।

वाक्यार्थ के बारे में दो सम्प्रदाय हैं, एक अभिहितान्वयवादियों का, दूसरा अन्विताभिधानवादियों का। इन दोनों का थोड़े ही शब्दों में स्पष्ट विवरण मम्मट के काव्यप्रकाश में मिलता है—

(१) पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।

(२) वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।

अभिहितान्वयवादियों का मत है कि पदों के अलग अलग अर्थों का अन्वय करने पर विशेष रूपवाला, पदार्थ से भिन्न तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ उठ पड़ता है। अन्विताभिधानवादियों का मत है कि पदों का जो वाच्य अर्थ है, वही अन्वित होकर वाक्यार्थ होता है, पदार्थ से यह भिन्न नहीं है। इसीलिए पुण्यराज इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं—**पदार्थ एव वाक्यार्थः** (पदार्थ ही वाक्यार्थ है)। इन्हीं मतों का प्रतिपादन करने के लिए कभी **पदसंघात** को वाक्य और उस संघात से उठे हुए अर्थ को वाक्यार्थ, कभी पदों के **क्रम** को वाक्य और अर्थ को वाक्यार्थ, तथा कभी **आख्यात (क्रिया)** पद को ही वाक्य और उसके अर्थ को वाक्यार्थ बताया गया है। वाक्यपदीय में कहा है—

सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्॥

अलग अलग पदों का सम्बन्ध जान लेने पर, उन अनेक पदों पर ही आश्रित जो अधिक अर्थ पैदा होता है, उसी को वाक्यार्थ कहते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान भी यही सिद्ध करता है कि शब्द का अलग-अलग अर्थ भाषा में बहुत कम महत्व रखता है। ओग्डेन-रिचार्ड्स ने प्रतिपादित किया है कि यह प्राचीन समय से प्रवाद-रूप चला आया है कि शब्द में उसका अर्थतत्व रहता है, पर यह केवल भ्रान्ति है। उनके मत से, प्रसंग से विच्छिन्न शब्द एक निरर्थक अवयव मात्र है। अन्य शब्दों के संसर्ग के साथ वाक्य में प्रयोग में आने से ही उसकी उपादेयता और सार्थकता है। इसी तरह किसी वक्तव्य या बात की भी जिस परिस्थिति में वह कही गई है, उसके बिना कोई सार्थकता किसी बोल-चाल की भाषा में नहीं होती। भाषाविज्ञानी भी स्वीकार करते हैं कि वाक्य को पदों में विभाजित करना व्याकरणकार का काम है। बहुधा अशिक्षित व्यक्ति अपने वाक्य के विभिन्न पदों को अलग-अलग नहीं रख पाता। केवल इतना निश्चय है कि मनुष्य के अन्तःकरण में पदों की अलग-अलग स्थिति है, अन्यथा एक ही मनुष्य एक रूप में विभिन्न वाक्यान्तर्गत लगातार पदों की सिद्धि न कर पाता।

ऊपर अभिधा शक्ति का उल्लेख किया गया है। इसके द्वारा शब्द के संकेतित अर्थ का बोध होता है। यह संकेतित अर्थ व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ भी हो सकता है और प्रवृत्ति-सिद्ध भी। इस शब्द की अन्य दो शक्तियों का विवेचन भारतीय शास्त्रकारों ने किया है, वे हैं लक्षणा और व्यंजना। लक्षणा के बारे में विश्वनाथ कहते हैं—

उसी से मिला हुआ जब दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, चाहे परम्परा से आई हुई प्रवृत्ति के कारण, या किसी खास प्रयोजन के कारण, तब उस अर्थ में लक्षणा शक्ति का होना कहा जाता है। कुछ उदाहरण लीजिए। कभी-कभी हम कहते हैं **'यह सड़क बहुत चलती है'**। चलने की क्रिया चेतन के द्वारा ही संभव है, अचेतन के द्वारा नहीं। सड़क अचेतन है, भला वह कैसे चल सकती है? इसलिए **'चलना'** के मुख्य अर्थ की यहाँ बाधा हुई। इस वाक्य का लक्षणा शक्ति के द्वारा यह अर्थ हुआ कि उस सड़क पर जनसंचार अधिक है। इस उदाहरण में लक्षणा का कोई खास प्रयोजन नहीं है। बहुत समय से हम लोग इसी तरह बोलते आए हैं, इसलिए यह **रूढ़ि** है।

'पंडितजी गऊ हैं'। इस वाक्य में मुख्य अर्थ की बाधा है। पंडितजी ठहरे मनुष्य, न उनके सींग न उनके चार पैर न गाय के अन्य लक्षण। इस मुख्य अर्थ की असंगति के कारण हमें दूसरा अर्थ खोजना चाहिए। गाय सीधा-सादा भोला-भाला जानवर है। पंडितजी भी बहुत सीधे, सरल, निश्छल स्वभाव के हैं, इसलिए उनको गऊ कहा गया। यहाँ पर इस वाक्य का केवल इतना मतलब है कि पंडितजी बहुत सीधे हैं, उनकी सिधाई मूर्खता की सीमा तक पहुँचती है। इस अर्थ का सम्बन्ध मुख्य अर्थ से इस कारण है कि गाय भी सीधी-सादी होती है। यह अर्थ भी लक्षणा से सिद्ध हुआ और यहाँ भी रूढ़ि है। सैकड़ों साल से हम कहते आए हैं। काव्यप्रकाश में उदाहरण मिलता है **गौर्वाहीकः** (वल्ख देश का रहनेवाला मनुष्य गऊ है)।

रूढ़ि लक्षणा के इसी तरह के सैकड़ों उदाहरण अपने साहित्यिक ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें कोई स्पष्ट प्रयोजन नहीं दिखता।

प्रयोजनवती लक्षणा में कोई विशेष प्रयोजन होता है, जिसके

कारण ऐसा वाक्य बोलते हैं, जिसमें मुख्यार्थ की बाधा होती है। संस्कृत का सर्वविदित उदाहरण है **गंगायां घोषः** (गंगा में गाँव है)। इस वाक्य में साफ ही संकेतित अर्थ की बाधा है, कहीं नदी की धार में जल के ऊपर भी गाँव टहर सकता है ! तात्पर्य यह है कि गंगा के किनारे गाँव है। यहाँ पर मुख्य अर्थवाला वाक्य न कहकर, यह विशिष्ट ढंग लिया गया, इसका प्रयोजन यही है कि जो शीतलता और पवित्रता आदि गुण गंगाजी में हैं, वे सब इस गाँव को प्राप्त हैं। हिन्दी फिल्म-जगत् का एक उदाहरण लीजिए,—

आज हिमालय की चोटी से फिर हमने ललकारा है।
दूर हटो, दूर हटो, दूर हटो, ऐ दुनियावालो हिन्दुस्तान हमारा है॥

इस वाक्य में मुख्यार्थ की बाधा है, क्योंकि ललकारनेवाले हिमालय की चोटी पर नहीं हैं, मैदान में खड़े हैं। फिर साफ-साफ यह क्यों नहीं कहते कि यहाँ खड़े हुए हम ललकार रहे हैं। ऐसा न कहकर हम हिमालय की चोटी से ललकार रहे हैं इस कहने का कोई प्रयोजन है। ऊँची जगह पर खड़ा मनुष्य जब कोई बात कहता है तो दूर तक सुनाई देती है। हिमालय पर्वत संसार के पर्वतों में काफी ऊँचा है और फिर उसकी चोटी तो सबसे ऊँची है। वहाँ खड़े होकर जो बात कही जायगी, वह संसार भर में सुनाई देगी। फिर किसी को यह कहने का मौका न होगा कि भाई हमने ललकार नहीं सुनी, नहीं तो जवाब देते। साथ ही यह गर्वोक्ति भी है कि हमी वह लोग हैं जिनके पास संसार की सर्वश्रेष्ठ अक्षय सम्पत्ति, सर्वोच्च पर्वत, मौजूद है।

लक्षणा के दो भेद रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा ऊपर बताए गए हैं। और, इन दोनों के प्रभेद करके चालीस प्रकार की

लक्षणा सिद्ध की गई है। फिर लक्षणा पद में भी हो सकती है (यथा ऊपर के उदाहरणों में **गऊ** का अर्थ सीधा-सादा, **गंगा** का अर्थ गंगातट और **हिमालय की चोटी** का अर्थ ऊँचा स्थान) और वाक्य में भी। इस तरह लक्षणा के अस्सी भेद सिद्ध होते हैं। **वाक्य लक्षणा** का उदाहरण लीजिए—

कथमुपरि कलापिनः कलापो
विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम्।
कुवलययुगलं ततो विलोलं
तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात्॥

यह क्या ? ऊपर तो मोर की पूँछ चमक रही है, उसके नीचे अष्टमी का चाँद, उसके भी नीचे दो चंचल नील कमल, फिर उसके नीचे की ओर तिल-पुष्प और उसके बाद लाल पत्ती (मूँगा)।

स्पष्ट ही यह वर्णन है। किसका ? यह प्रसंग से मालूम होगा। कोई चाटुकार प्रेमी अपनी प्रेयसी के मुख का वर्णन कर रहा है। ऊपर केशपाश है, इसको वह मोर की पूँछ समझता है, उसके मत्थे को अष्टमी का (आधा) चाँद, उसके नेत्रयुगल को चंचल नील कमल, उसकी नासिका को तिल-पुष्प और उसके अधर को कोमल लाल-पत्ती। साफ़ ही **कलाप, इन्दुखंड, कुवलय** आदि पदों के संकेतित अर्थ की बाधा है। इन चीज़ों की केशपाश आदि से समानता होने के कारण लक्षणा से उनका बोध होता है, और सब मिलकर सुन्दरी के मुख को बतलाते हैं। अलग-अलग पद-लक्षणा होने पर भी समष्टि में वाक्य-लक्षणा है।

अभिधा और लक्षणा के बाद **व्यंजना शक्ति** आती है। विश्वनाथ कहते हैं—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

अर्थात् अभिधा लक्षणा (और तात्पर्य) शक्तियाँ जब अपना-अपना अर्थ बताकर अलग हट जाती हैं, तब जो दूसरा अधिक अर्थ भासित होता है, वह व्यंजना शक्ति का व्यापार है। अर्थद्योतन की यह शक्ति शब्द में, अर्थ में, प्रकृति, प्रत्यय आदि में रहती है।

सूर्योऽस्तङ्गतः (शाम हो गई) इतना कहने से वाच्य अर्थ का बोध हो गया। अब किसने किससे कहा, इस बात का ध्यान करने से इस सामान्य वाक्य से तरह-तरह के नए अर्थ निकलेंगे। यदि गुरु शिष्य से कहता है तो मतलब हुआ कि चलो सन्ध्या-पूजा का प्रबन्ध करो; यदि ग्वाला अपने साथी से कहता है तो अभिप्राय है कि गायों को अब आगे बढ़ने से रोककर पीछे ले चलो; अगर बच्चा माँ से कहता है तो प्रयोजन है कि खाना तैयार करो, खाकर सो जाऊँ; यदि मालिक नौकर से कहता है तो अभिप्राय है कि चिरागबत्ती ठीक करो; यदि टेनिसकोर्ट पर खड़ा खिलाड़ी कहता है तो प्रयोजन है कि खेल बन्द किया जाय और यदि होस्टेल में पढ़ते हुए छात्र से उसका साथी कहता है तो मतलब है कि भाई, किताब रख दो, चलो थोड़ा घूम आएँ। इस प्रकार के कितने ही दूसरे अर्थ इस एक सामान्य वाक्य से फूट निकले। ऊपर प्रयोजनवती लक्षणा के जो उदाहरण दिए हैं, उनमें **गंगा** से शीतलता, पवित्रता आदि का अधिक अर्थ व्यंजना शक्ति से ही सिद्ध होता है, तथा **'हिमालय की चोटी'** से जो गर्व आदि का बोध होता है, वह व्यंजना से ही। पिछले व्याख्यानों में प्रसंग के

अंगों की मिसालों में कई एक में बड़ी सुन्दर व्यंजना है। दो एक और उदाहरण देखिए।

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कंठिताऽसि तरले नहि नहि सखि पिच्छलः पन्थाः॥

बारिश का मौसम है। दो सखियाँ चली जा रही हैं। एक कहती है—बादलों के समय **अपतिता** रहना अशक्य है दूसरी पूछती है, हे चंचल नारि, क्या विरह बहुत सता रहा है? पहली सखी-तुरन्त जवाब देती है 'नहीं नहीं, सखी, रास्ता बड़ा फिसलाने वाला है'। इस पद्य में '**अपतितया**' शब्द में श्लेष है। एक अर्थ है **बिना फिसले;** दूसरा **बिना पति** के। कहनेवाली ने एक अर्थ में कहा, सुननेवाली ने दूसरा अर्थ लिया। पद्य से इसी अर्थ का संकेत होता है। पर वास्तविक बात यही है कि कहनेवाली को सचमुच विरह सता रहा था, मगर वह अपनी सखी से बात छिपा गई। यह वास्तविक अर्थ व्यंजना से ही प्रकट हो सकता है।

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

"दिवस आगे है, उसका राग सन्ध्या में है। परमेश्वर की गति विचित्र है कि तब भी समागम नहीं हुआ।" इस पद्य में सन्ध्या में स्त्रीलिंग है और दिवस में पुंलिंग। इसके आधार पर नायक-नायिका भाव का उन पर आरोप हुआ। राग का एक अर्थ लालिमा है, जो दिवस और सन्ध्या में लगा, दूसरा प्रेम है, जो नायिका में, पुरःसर का एक अर्थ है आगे जानेवाला, दूसरा सामनेवाला। दिवस सन्ध्या के पहले चला जाता है, दूसरी ओर नायक सामने खड़ा है। अचरज की बात जरूर है कि नायिका में प्रेम हो और नायक

सामने खड़ा हो, फिर भी दोनों का मेल न हो। यह सारा अर्थ व्यंजना से ही निकलता है।

इन तीनों शक्तियों से अर्थ का बोध होता है। यहाँ इन शक्तियों की ओर केवल इशारा कर दिया है। विशेष विवरण काव्यप्रकाश आदि मूल ग्रन्थों में मिलेगा। हिन्दी में इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए पं० रामदहिन मिश्र का काव्यालोक अच्छा ग्रन्थ है। अर्थ के ऊपर इन शक्तियों के द्वारा प्रकाश पड़ता है। यद्यपि सिद्धान्तरूप से यह बात दिखाई गई है कि इन शक्तियों का व्यापार पद और पदांश में भी होता है पर सामान्य रूप से कह सकते हैं कि पदार्थ गौण हो जाता है, वाक्यार्थ ही मुख्य रहता है। **विषं भुंक्ष्व** आदि वाक्यों में पदार्थ नितान्त तिरस्कृत है, यहाँ न तो तात्पर्य विष से है न खाने से, तात्पर्य है निमन्त्रण अस्वीकार करने से। **काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्** (कौओं से दही की रक्षा करना)। इस वाक्य के कहने का यह मतलब नहीं कि कौओं से तो दही बचाओ मगर कुत्ते-बिल्लियों को खा लेने दो। अभिप्राय है कि सभी जीवों से दही को बचाओ, कौओं से भी, कुत्तों, बिल्लियों, गिलहरियों, चींटों, चींटियों सभी से। यहाँ **'कौओं से'** इस पद का अर्थ कितना गौण हो गया। **'भम धम्मिअ वीसद्धो'** में विध्यात्मक **(घूमो फिरो)** अर्थ जो शब्दों से निकलता है वह है ही नहीं, है उसका बिलकुल उल्टा। अन्योक्ति में भी बिलकुल भिन्न अर्थ निकलता है। बिहारी बोध कराना चाहते थे राजा को और बोले भौंरे से। इस तरह यह सिद्ध होता है कि पदार्थ या तो हेय है या बहुत गौण। मुख्य है वाक्यार्थ और वाक्यार्थ भी ऐसा जो यद्यपि पदों से कुछ मेल रखता है, तब भी मुख्य रूप से प्रसंग पर अवलम्बित है।

मनुष्य जब परिश्रम करके आराम करने और गप लगाने के

लिए बैठता है, उस समय जो बातें वह करता है, वे प्रायः निरर्थक होती हैं। वे उसके अन्तस्तल तक उस हद तक नहीं पहुँचतीं, जिस तक उसकी गंभीरता में बोले हुए शब्द पहुँचते हैं। **'कहो भाई कब आए' 'कहो कैसे रहे'** आदि वाक्य इस प्रसंग में निरर्थक ही होते हैं।

आपके यहाँ कोई मुलाक़ाती बैठे हैं। अन्दर से नौकर आता है और आपसे कहता है, **"सरकार, रसोई तैयार है।"** आप तुरन्त अपने मुलाक़ाती से कहते हैं **'चलिए, खाना खाइए'**। मुलाक़ाती बहाने करके विदा होता है। इस प्रसंग में आपका अपने परिचित जन को निमन्त्रण देना भी निरर्थक है और आपके परिचित जन का **"नहीं, मुझे अभी फ़लानी जगह पहुँचना है, या फ़लाँ आदमी घर पर आनेवाले थे इन्तज़ार कर रहे हैं, नहीं, आप खाएँ मैं भोजन करके आया हूँ"** इत्यादि तरह-तरह के बहाने करना भी अवास्तविक है। पच्छिमी हिन्दी प्रान्त में दिल्ली तक आप चले जाइए, किसी घर पर पहुँचते ही मौखिक शिष्टाचार की भरमार आपको मिलेगी। **'अरे, आपके लिए नाश्ता लाओ', 'अरे, थोड़ा शर्बत ही लीजिए'**। इत्यादि सुहावनी बातें आपको सुन पड़ेंगी। आप भी जानते हैं कि ये सारी बातें शिष्टाचार में ही कही जा रही हैं, कहनेवाले भी जानते हैं कि आप खाएँगे नहीं। तब भी यह शिष्टाचार चलता है। गाँव में रोज़ मिलनेवाला साधारण जन जब बोलता है **'पंडितजी पाँव छुई'** और पंडितजी महाराज उत्तर देते हैं **'चिरंजू'** तो न तो वह आदमी पंडितजी के पैर छूता है और न चिरंजीव का तात्त्विक अर्थ पंडितजी के अन्तःकरण में है। दोनों ज़बानी जमा-ख़र्च करते हैं, जो शिष्टाचार-मात्र है। संभव है कि वह साधारण जन पंडितजी से मन ही

मन मिलता हो और उसके मन में उनके लिए दुर्भावना हो, आदरसूचक पैर छूने का भाव तो दूर रहा। दूसरी ओर यह भी संभव है कि जिस मुहूर्त में पंडितजी जबान से उस मनुष्य के दीर्घजीवी होने की कामना करते हैं, उसी मुहूर्त में उनके अन्तः-करण में यह भावना हो कि यह कल मरता हो तो आज ही मर जाय। शिष्टाचार में बोले हुए वाक्य बहुधा वास्तविक अर्थ से बहुत दूर होते हैं, उसी तरह जैसे गाली के शब्द जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। गाली के शब्दों का केवल मनोरंजन ही अभिप्राय हो सकता है। इसका उदाहरण ब्याहार के समय गाई हुई गालियों या होली के दिनों में अलापे हुए कबीरों में मिलता है। इन्हीं का यदि दूसरे समय प्रयोग किया जाय तो लाठी-छुरी चल जाने की संभावना हो सकती है।

रामायण में जब दशरथ ने क्रुद्ध कैकेयी से कहा—

स्पृशामि चरणावपि ते प्रसीद मे।

(तेरे पाँव भी छूता हूँ, गुस्सा छोड़ दे)

अथवा जब दुष्यन्त शकुन्तला से बोले—

संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।

(या तेरे कमल-से लाल चरणों को दाब दूँ)

तब चरण छूना या पैर दाबना केवल शब्दाडम्बर था। दोनों अपनी-अपनी प्रेयसी की खुशामद कर रहे थे। खुशामद करते समय मनुष्य ऐसी-ऐसी बातें कह जाता है जो गम्भीर स्थिति में वह कभी न कहता।

फलित ज्यौतिष, तन्त्र, धार्मिक विधि, जादू आदि के वाक्यों में पदार्थ का कोई अर्थ नहीं होता, वाक्यार्थ भी गौण ही रहता है। शनि की शान्ति के लिए ज्यौतिषी यह मन्त्र पढ़ता है—

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः।

जिसमें यही सुन्दर प्रार्थना है—

'हे परमेश्वर! मेरी विनय है कि यह दिव्य शक्तिवाला जल हमारे पीने और अभीष्ट सिद्धि के लिए हो। हमारे सुख और कल्याण के लिए हमारी ओर यह बहे'।

भला इसका शनि से क्या सम्बन्ध हो सकता है? साफ़ ही मालूम होता है कि मन्त्र के शुरू के **'शन्नो'** शब्द से शनि की कुछ वर्णात्मक समानता है, इसी के आधार पर यह शनि की शान्ति के लिए काम में आने लगा। और, जनता का पक्का विश्वास है कि इससे शनि का कोप शान्त हो जाता है। तान्त्रिक जब **ह्रीं ह्रौं** आदि अक्षरों का उच्चारण करके अपनी क्रियाओं की सिद्धि करता है, तब उसके इन अक्षरों की भाषा में न पदार्थ है न वाक्यार्थ, है केवल उसका मनोनीत अभिप्राय। चूडाकर्म कराते हुए यजमान पिता से जब पुरोहित उसकी दृष्टि छुरे पर डलवाकर **'क्षुरमेनं हिंसीः'** (हे छुरे, इस बालक को हानि न पहुँचाना) कहता है तो इस वाक्य का यह मतलब नहीं हो सकता कि छुरे से निवेदन किया जा रहा है। छुरा निर्जीव, वह भला किसी की प्रार्थना क्या सुनेगा? यजमान केवल अपनी मनोकामना को व्यक्त करता है, यही कि उसके बच्चे को कोई चोट न लगे, कहीं बाल मुँडाते समय बच्चे के सिर में छुरा लग न जाय। इसी तरह साँप या बिच्छू के काटने पर नाउत **'छू काली कलकत्तेवाली, तेरा वचन न जाए ख़ाली'** कहकर साँप और बिच्छू का विष झाड़ना चाहता है, इस पूरे वाक्य का यही अर्थ है, और कुछ नहीं।

मनुष्य के सारे व्यापार में, चाहे विचार हो, चाहे वाणी, चाहे क्रिया, सर्वत्र मनस् अथवा चित्त-वृत्ति ही मुख्य है। कहा भी है—

मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम्।
येनैवालिङ्गिता कान्ता तेन वेश्यापि स्वीकृता ॥

अर्थात् पाप मन से ही होता है, शरीर की क्रिया पाप नहीं। जिस अंग से अपनी प्रेयसी पत्नी को अपनाया, उसी से वेश्या को भी स्वीकार किया (मन की भावना के कारण एक में पाप नहीं, दूसरे में है)। बच्चे को माँ डाटती है, उसका एक प्रभाव पड़ता है, बच्चा माँ के थप्पड़ खाकर भी उसी से तुरन्त चिपटता है, दूसरे की डाट और थप्पड़ का दूसरा असर होता है। मन की भावना जो दूसरी है। साहित्य-प्रेमी दन्तच्छेद्य और नखच्छेद्य से परिचित हैं। यही दोनों किसी परिस्थिति में उत्तम शृंगार के अनुभाव हैं, अन्य परिस्थिति में इन से क्रोध की अतिमात्रा का आभास मिलता है। क्रिया एक है, पर मन की भावना दूसरी होने से कुछ का कुछ हो जाता है। वाणी का शासन पूरे तौर से मनस् ही करता है।

कभी-कभी जिस वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं, उसको भी मनस् अपनी कल्पना से उपस्थित कर देता है। वाक्यपदीय का वचन है—

तलवद्दृश्यते व्योम खद्योते हव्यवाडिव।
न चैवास्ति तलं व्योम्नि न खद्योते हुताशनः ॥

अर्थात् आकाश में तल दिखाई पड़ता है, और जुगनू में आग सी दिखाई पड़ती है। पर वास्तव में न अम्बर में तल है न जुगनू में आग। तब भी हम व्योमतल में चन्द्रमा है, ऐसा कहते हैं। आकाश तो कोई पार्थिव पदार्थ नहीं, जिसका तल हो सकता। जुगनू को खद्योत कहते हैं, जिसका अर्थ है आकाश की ज्योति।

५. अर्थ की अनुभवजन्यता, अर्थविकास का मूल कारण

तीसरे व्याख्यान में अर्थ की विभिन्नता दिखाई गई थी। यह विभिन्नता देश-भेद और काल-भेद दोनों में पाई जाती है। भिन्नता यहीं हमारे देश में मिलती है दूसरी जगह नहीं, ऐसी बात नहीं। न यही कहना ठीक होगा कि यह विभिन्नता आधुनिक काल में ही मिलती है, पहले नहीं थी। अर्थ की भिन्नता का कारण है अर्थ की परिवर्तन-शीलता। इस जगती की सब चीज़ें जगत् (चलती हुई, बदलती हुई) हैं। भाषा भी यहाँ की एक चीज़ है। वह बदलती रही है। आज जो भाषा हम बोलते हैं, वह हमारे पुरखों की भाषा से बहुत भिन्न है। जितना ही पूर्व काल की ओर बढ़ते चलिए, आधुनिक काल की भाषा से पूर्व काल की भाषा की भिन्नता उसी अनुपात से बढ़ती जायगी। यह विभिन्नता अन्त में हम आर्य भाषा-भाषियों को वेद-संहिताओं तक पहुँचा देगी। भाषा की परिवर्तनशीलता में उसके सभी अंगों, ध्वनि, पद, वाक्य-विन्यास, अर्थ, सभी का सहयोग है। फूल के विकास में उसके सभी अवयवों का विकास होता है। वही स्थिति भाषा की भी है। अर्थ भाषा का अवयव है, इसलिए वह भी बदलता है।

मनीषियों ने यह ढूँढ़ निकालने की कोशिश की है कि अर्थ आख़िर बदलता क्यों है। क्यों नहीं ऐसा होता कि शब्द का जो अर्थ एक बार दिमाग़ में आ जाय, वह सदा के लिए जमा रहे?

इस प्रश्न का आंशिक उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। अर्थ अनुभवजन्य है, और मनुष्य का अनुभव हरएक क्षण बदलता रहता है। जो अर्थ हमारे दिमाग़ में रहता है, वह अपूर्ण अनिश्चित अवस्था में होता है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

बचपन में बच्चे का दूध का दाँत जब उखड़ता है, तब वृद्धजन यही उपदेश देते हैं कि इसे जाकर गाड़ दो और जमने को कहो, नहीं तो इसकी जगह दाँत न उगेगा और तुम खोड़िले ही रह जाओगे। इस कथन में विश्वास कर बच्चा दाँत को ले जाकर घास के बीच में गाड़ देता है और साथ ही कहता जाता है कि 'घास घास जैसे तुम जमीं वैसे ही मेरा दाँत जमे'। जब उस दाँत की जगह दूसरा जम आता है तो बच्चा समझता है कि यह उसके ऊपर कहे हुए उपचार के कारण ही हुआ। इसी तरह फल के बीजों को निकालकर ही हमें उसे खाने की हिदायत मिलती है, नहीं तो पेट में पेड़ उग जायगा। इस कथन के अनुकूल कभी सन्तरे, शरीफ़े आदि का बीज खा जाने पर बच्चे को आशंका बनी ही रहती है कि कहीं पेड़ जम न आए। इसी तरह भूत, प्रेत, राक्षस, परी आदि की कितनी ही कहानियों को सुनते-सुनते इनका अस्तित्व ही हमारे दिमाग़ में जम जाता है। आगे चलकर जैसे-जैसे हमारी बुद्धि परिपक्व होती है, वैसे-वैसे ये भ्रान्त धारणाएँ निकलती जाती हैं। बचपन से ही सुन-सुनकर हम समझते आए हैं कि रोग का भी अस्तित्व है। पर आधुनिक आयुर्वेद ने सिद्ध कर दिया है कि रोग कोई चीज़ नहीं, शरीर की ही अस्वस्थ या विषम अवस्था को हमने तरह-तरह की बीमारियों के नाम दे रक्खे हैं। स्वर्ग-नरक, जहन्नुम-बहिश्त, फ़रिश्ते, देव, जिन आदि के कितने ही चित्र हमारे दिमाग़ में घुसे हुए हैं जो तर्क

का अनुसरण करने पर बालू के बने महलों की तरह ढह पड़ते हैं।

वर्तमान जगत् में ही हम लोगों का अनुभव कितना पलटा खा रहा है। १९२०-२२ के असहयोग आन्दोलन के समय हिन्दू की मुसल्मान के बारे में क्या भावना थी, उसकी इस बीस-पच्चीस साल के थोड़े समय में ही बदली हुई भावना की तुलना कीजिए। आकाश-पाताल का अन्तर है। अँगरेजों के विषय में हमारे विचार कैसे बदलते रहे हैं। पचास साल पहले सामान्य भारतीय उन्हें न्याय और सत्य की मूर्ति समझता था, १९०७-८ के आन्दोलन से हमारी आँखें खुलीं, प्रथम संसार-युद्ध के बाद हमारी उस भावना को भारी ठेस लगी। इधर १९२० से बराबर हम उनके कुकर्मों और दुर्व्यवहारों के कारण उन्हें संसार के जघन्य लोगों में से एक समझने लगे हैं। और, आज जब वे स्वराज देने की और भारत से हट जाने की कोशिश करते से दिखाई देते हैं, तब हम बार-बार अपनी आँखें मल-मलकर देखने की कोशिश करते हैं और जानना चाहते हैं कि क्या यह सच है। म्युनिस्पैल्टियों और जिला बोर्डों के तथा अन्य सभा-सोसाइटियों के चुनावों में जात-पाँत के अकारण स्नेह या विद्वेष का खुला खेल देखकर हमारे मन में जातियों के विषय में बने हुए विचार कैसा पल्टा खाते हैं। कभी-कभी एक ही दिन में पानी के बुलबुलों की तरह एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न विचार हमारे मन में उपस्थित हो जाते हैं। मान लीजिए कि किसी विशेष पद के लिए आप कोशिश कर रहे थे। न्याय से या अन्याय-बुद्धि से अधिकारियों ने दूसरे व्यक्ति की उस पद पर नियुक्ति कर दी। आपकी बुद्धि ने उसे अन्याय समझा। कारण ढूँढते-ढूँढते आप उन अधिकारियों की जाति तक

पहुँच गए और जातिगत पक्षपात समझ बैठे। उस जाति भर को बुरा समझ लिया। शाम तक आपकी यही धारणा रही। मान लीजिए कि शाम को आपका किसी महात्मा से सत्संग हो गया या आपने अध्यात्म-प्रतिपादक कोई ग्रन्थ देख लिया और वह कंटक आपके दिमाग़ से निकल गया। अथवा किसी निष्पक्ष आप्त पुरुष ने आकर यह सिद्ध कर दिया कि आपके प्रतिद्वन्द्वी की नियुक्ति ही न्याय-संगत थी, आपकी होती तो अन्याय होता। आपको सन्तोष हो गया, और जो बुलबुला उन अधिकारियों और उनकी जाति के बारे में उठा था, वह विलीन हो गया। इस तरह प्रतिक्षण हमारा अनुभव बनता, बिगड़ता, बदलता रहता है और इसी के अनुकूल हमारी विचारधारा बदलती रहती है और उसके अनुकूल हमारे शब्दों के अर्थ।

अर्थ के अनिश्चित और अपूर्ण होने के कारण भी अर्थ बदल जाता है। तीसरे व्याख्यान में **क़लम, कुत्ता** और **चक्की** के उदाहरण दिए गए हैं। संकेतित अर्थ केवल एक मुख्य बात का बोध करा देता है और वहाँ पर रुक जाता है। बाक़ी की बातें छिपी-सी रहती हैं, इन्हीं के बारे में भिन्न-भिन्न लोगों के दिमाग़ में भिन्न-भिन्न अस्तित्व रहता है। क़लम का संकेतित अर्थ है लिखने का एक साधन। अब यह रोशनाई ग्रहण करती है या खड़िया का रस या पिंडोल का रस, यह बात अव्यक्त रह जाती है। फिर बार-बार इसका रोशनाई से सम्पर्क कराया जाता है, या एक बार ट्यूब में भरकर कुछ समय के लिए फ़ुर्सत हो जाती है, इसका कोई संकेत हरएक क़लम के इस्तेमाल करनेवाले को नहीं मिलता। और, रोशनाई क़लम में अलग ट्यूब में डालकर उँडेली जाती है या क़लम की ही पेंदी की या पेट की कोई कल दबाकर दवात में डुबो देने

से रोशनाई भर जाती है, इसका भी कोई आभास संकेतित अर्थ नहीं कराता। हर आदमी के अनुभव के अनुसार ये सारी बातें, एक या अनेक, उसके मस्तिष्क में लीन रहती हैं, और हर प्रसंग के अनुकूल उठ खड़ी होती हैं। यदि किसी समय फ़ाउंटेनपेन का ही इस्तेमाल हमारे देश में बाक़ी रह गया, तो इनमें से कितनी ही बातें खारिज हो जायँगी। अन्य शब्दों के अर्थ के बारे में भी इसी तरह की गवेषणा हो सकती है।

संस्कृत भाषा में एक लोकोक्ति है—

प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति

अर्थात् नाम मुख्य भाव अथवा प्रधानता से पड़ते हैं। यदि **ब्राह्मणग्रामः** (ब्राह्मणों का गाँव) कहा तो इसका यह मतलब नहीं कि उस गाँव में ब्राह्मण ही ब्राह्मण रहते हैं, अन्य मनुष्य नहीं। उसमें ज़्यादा नहीं तो थोड़े बहुत घर ठाकुरों, बनियों, नाई, कहार, लोहार, चमार आदि के भी होंगे; पर नाम इस कारण पड़ा, क्योंकि उस गाँव में ब्राह्मण ही या तो बहुसंख्यक हैं या प्रभावशाली। कालान्तर में यह स्थिति बदल सकती है और यह भी संभव हो सकता है कि उस गाँव में ब्राह्मणों की प्रधानता खतम हो जाय और शायद ब्राह्मणों का एक भी घर न रह जाय। गाँव का नाम तब भी शायद वही रह जायगा, केवल संस्कृत शब्द का विकसित रूप **बम्हन-गाँव** चल पड़ेगा। एक अन्य संभावना यह भी है कि उस गाँव का नाम ही बदलकर दूसरा कर दिया जाय। मुसल्मान शासन-काल में कितने ही हमारे पुराने नगरों के नाम बदल गए। आज भी शहरों की कितनी ही सड़कों और गलियों के पुराने नामों को बदलकर नए रक्खे जा रहे हैं।

व्यक्तियों के नाम रखते समय हमारी या अन्य प्रधान पुरुष की जो तत्कालीन भावना होती है, उसी के अनुकूल नाम पड़ जाते हैं। इन भावनाओं में देवशक्तियों को धन्यवाद (ईश्वरदत्त, देवीदयाल, मयागदास, अलोपीदीन), प्राचीन संस्कृति की स्मृति (सावित्री, शकुन्तला, अर्जुन, देवकी, सीताराम, देवेन्द्र), धर्मोद्धार आदि की महत्त्वाकांक्षा (देशदीपक, आर्यमित्र, गुरुसेवक), बच्चे के भविष्य में सफल होने की आकांक्षा (धनेश्वर, रानी, महादेवी, शोभा), कोई टुटका (पँचकौड़ी, तिनकौड़ी, मातावदल, घेंचेलाल, घसीटेमल), या तत्कालीन दीनता या मजाक (झाऊलाल, फ़क़ीरे, सद्धू, मिजाजीलाल) इत्यादि कितनी ही बातें हो सकती हैं। कभी कैसे ग़लत नाम रख दिए जाते हैं, इसका संकेत कुछ कहावतों से भी मिलता है। नाम पृथ्वीनाथ, भूमि बिस्वे भर भी नहीं। पढ़े न लिखे नाम मुहम्मद फ़ाज़िल, नाम कुलश्रेष्ठ, निकले कुलकलंक। चन्द्रमाप्रकाश का रंग अमावास्या की रात का हो सकता है। नवीन बाबू की भौंवें तक सफ़ेद हो जाती हैं। कुमार बाबू के बच्चों की संख्या पूरे एक दर्जन पर पहुँचती है। तिनकौड़ी घोष की कलकत्ते में कोठियाँ खड़ी हैं। देशदीपक जयचन्द की प्रतिस्पर्धा करते हैं। वीरेन्द्र बिल्ली की आहट से भी डर जाते हैं।

नामों के बारे में जो बात ऊपर कही गई है, वह भाषा के शब्दों पर भी घटित होती है। यह परिवर्तन भाषा के स्वभाव में है। जहाँ अर्थ है, वहाँ परिवर्तनशीलता है। अर्थ के परिवर्तन का ज्ञान हमें थोड़ा ही ध्यान देने से हो जाता है, पर ध्वनियों में परिवर्तन अनजान में ही होता रहता है। अर्थ का परिवर्तन भी अनजान में ही होता है, पर इसका परिवर्तन शीघ्र झलक जाता है; क्योंकि

यह साक्षात् अनुभव की बात है। यह परिवर्तन भी भाषा की तरह प्रवाहरूप चला आया है। जिस तरह हम यह नहीं बता सकते कि भाषा का उद्गम कहाँ से है, उसी तरह यह नहीं मालूम हो सकता कि अर्थ कब से बदलना शुरू हुआ। बदलने का कारण तो जिस क्रम से हम भाषा सीखते हैं उसी में मौजूद है। वृद्धजन शब्दों का व्यवहार करते हैं, उनकी देखादेखी हम भी व्यवहार करने लगते हैं। यदि शब्द-ग्रहण या अर्थ-ग्रहण में कोई स्थूल ग़लती हुई तो वह या तो अभ्यास से सुधर जाती है या वृद्धों का उपदेश उसे सुधार देता है। पर वह स्थूलरूप ही न तो पूरा शब्द है, न पूरा अर्थ। उसके ऊपर उल्लिखित अन्य सहवर्ती सूक्ष्म अंग वक्ता के मन में और अभ्यास में एक हो सकते हैं और श्रोता के दूसरे। ये सूक्ष्म अवयव कभी मुख्य अवयव की जगह ले सकते हैं, तभी हमें मानना पड़ेगा कि परिवर्तन हो गया। इसी लिए कहा गया कि परिवर्तन का मूल कारण अर्थ के ग्रहण करने के क्रम में ही उपस्थित है।

भाषा के विकास का मूल कारण खोजते हुए प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी ऑटो जेस्पर्सन इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति के कारण ही भाषा का विकास होता है। इसी को परिवर्तनशीलता कहते हैं। ध्वनिरूप और पदरूप में परिवर्तन का मूल कारण अधिकांश में प्रयत्न-लाघव है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जेस्पर्सन महोदय का कथन है कि अर्थ के विकास की तह में भी यही प्रयत्न-लाघव का सिद्धान्त काम करता है। **पनचक्की** को अपने श्रम की बचत के लिए हम **चक्की** कहने लगते हैं। धीरे-धीरे **पन** (पानी) का भाव उस शब्दांश के हटने के बाद हमारे दिमाग़ से हटने लगता है और अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। अलग-अलग अर्थों

को व्यक्त करने के लिए अलग शब्द होने पर भी कभी-कभी उनमें से एक ही शब्द का इस्तेमाल दोनों अर्थों के लिए करने लगते हैं। अवश्य ही यह परिश्रम बचाने के लिए ही होता है। परिणामस्वरूप एक ही शब्द दोनों अर्थों को जतलाने लगता है। हिन्दी में **तस्वीर** या **चित्र** शब्द हाथ से खींची हुई के लिए मौजूद था। यूरोप के सम्पर्क से **फ़ोटो** आया। दोनों के सिद्ध करने के लिए अलग-अलग उपाय हैं। अब यदि फ़ोटो के लिए भी हम चित्र या तस्वीर शब्द का प्रयोग करें, जैसा कि करने लगे हैं, तो कुछ प्रयत्न-लाघव होगा और चित्र शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जायगा। इस प्रकार देखने से लगता है कि अर्थ के परिवर्तन की मूल में प्रयत्न-लाघव है। यह प्रयत्न-लाघव अपने आप होता रहता है और बिल्कुल अनजान में।

हमारे विचार में जब गुण आते हैं, तब गुणी के सम्बन्ध में और जब गुणी आते हैं, तब बरबस उनके गुणों पर ध्यान जाता है। इसी लिए सभी भाषाओं में गुणवाचक या भाववाचक शब्द गुणी का संकेत करने लगते हैं। हिन्दी का **सफ़ेदी** शब्द अब उस चूने के लिए भी इस्तेमाल में आता है जिससे मकान की दीवारें पोतकर सफ़ेद की जाती हैं। पूरबी अवधी में **बुड्ढा** की जगह **बुढ़ापा** प्रयोग में आता है, **बुढ़ापा मनई, बुढ़ापा मेहरारू**। संस्कृत भाषा में—**ति** प्रत्ययवाले शब्द भाववाचक होते हैं। इसी से **गति** का अर्थ है पहुँच, **जाति** का जन्म, **श्रुति** का सुनवाई या सुनना, **स्मृति** का याद, **कृति** का काम। परन्तु संस्कृत में कितने ही ऐसे शब्द भाववाचकत्व छोड़ चुके हैं। **जाति** का अर्थ जन्म पाए हुए लोगों का हो गया है, **ब्राह्मण जाति, वैश्य जाति** आदि। **श्रुति** का अर्थ विशेष ग्रन्थ है जिसे वेद भी कहते

हैं। स्मृतियाँ **मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति** आदि पुस्तकें हैं। **कृति** का अर्थ किसी रचना का हो गया, यथा **रामायण तुलसीदास की अनुपम कृति** है। **वसति** का अर्थ रहना है, फिर रहने की जगह हो गया, और उससे बढ़कर किसी बस्ती में रहनेवाले लोगों तक पहुँच गया है। हिन्दी का **सवारी** शब्द प्रथम सवार होना है, फिर सवार होने की गाड़ी, जानवर आदि हुआ जो अब भी भाषा में मौजूद है। **ऊँट से घोड़ा अच्छी सवारी है।** साथ ही साथ भाववाचक अर्थ भी चल रहा है, **बैल की सवारी शिवजी को ही शोभा देती है, दूसरों को नहीं।** पर सवार होनेवाले या वाली का अर्थ भी अब भाषा में आ गया है, **अरे भाई, मेरे साथ ज़नानी सवारियाँ हैं मुझे अँधेरा होने के पहले डेरे पर पहुँच जाना चाहिए।** जिस ताँगेवाले को किराएदार मिल गए वह दूसरों से कहता है, **अरे बढ़ाए चले जाओ, बहुत सी सवारियाँ उतरी खड़ी हैं।** संस्कृत के **ल्युट्** (**अन**) प्रत्ययवाले शब्द भी अधिकतर भाववाचक होते हैं, जैसे **गमन, चलन, भक्षण** आदि। मगर कुछ भाववाचक न होकर कर्तृवाचक हो गए हैं, जिनका समाधान, वैयाकरण **'कर्तरि ल्युट्'** कहकर कर देते हैं। **दहन** शब्द का जलना अर्थ है और साथ ही साथ जलानेवाली (आग) का भी। **श्रवण** का अर्थ कान (सुननेवाला) और **चरण** (चलनेवाला) का पैर हो गया। शायद इसी तरह **रदन, दशन** आदि शब्दों में भी भाववाचक में हम अन्य अर्थ को पहुँचे होंगे। यूरोप की लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में तथा अँगरेज़ी आदि वर्तमान भाषाओं में भी इसी तरह के उदाहरण मिलते हैं।

शब्दों का अर्थ व्यावहारिक होता है, वैज्ञानिक नहीं। ऊपर

रोग के विषय में कहा गया है कि विज्ञान सिद्ध करता है कि **रोग** का कोई अस्तित्व नहीं। लेकिन हम देखते हैं कि फोड़ा निकलता है, आँख दर्द करती है, बुखार आता है, खुजली परेशान करती है। ऐसी स्थिति में रोग का अस्तित्व मानना व्यावहारिक है। विज्ञान यह भी कहता है कि पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य स्थिर है, पर सामान्य अनुभव है कि सूरज निकलता है और चला जाता है, वह उसी तरह डूबता है जैसे कोई नदी या तालाब में डूब जाय। वह छिप भी जाता है और बादलों में से निकल भी आता है, यद्यपि वस्तुस्थिति यह है कि वह न तो छिपता है, न निकलता है, सिर्फ़ हमारी आँखें उतनी देर उसे नहीं देख पातीं।

अर्थ की अनुभूति कराने में मुख्य हाथ हमारी इन्द्रियों का होता है, और इनमें भी मुख्य आँख का। सूरज और चाँद आदि के निकलने, डूबने आदि में हम आँख ही को प्रमाण समझते हैं। ज्योतिष का ज्ञान होने पर भी व्यवहार ज्यों-का-त्यों चलता रहता है। इसी व्यवहार को प्रमाण मानकर आज विज्ञान के युग में भी जब सौर परिवार के हरएक ग्रह और नक्षत्र की गति ठीक ठीक नापी जा सकती है, मुसल्मान लोगों को जब तक आँख देखा प्रमाण न मिल जाय, वे ईद के चाँद को न निकला हुआ ही मानते हैं।

नेत्रों ने **तिल** देखे थे, **मसे** (मच्छड़) भी देखे थे। उन्हीं के समान शरीर पर कुछ चीजें दिखाई दीं, बस, उनका भी नाम तिल और मसा पड़ गया। कोई वैज्ञानिक यह मीमांसा करने न बैठा कि तिल से तो तेल निकलता है, उसे हाथ में लिया जा सकता है, यह तिल तो जहाँ जमा है वहाँ से हटता ही नहीं, न इससे तेल आदि कोई उपयोगी चीज़ ही निकल सकती है। मसा काटता है, पर यह शरीर का मसा बेचारा तो निर्दोष बैठा रहता

है, यह मीमांसा भी किसी ने नहीं की। इसी नेत्रजन्य ज्ञान से **आलू की** भी **आँख** हो गई और **गन्ने की** भी। इसी से **घड़े का मुँह, पर्वत की कटि** और **स्कन्ध** तथा **शिर** आदि भी सिद्ध हुए। इस तरह से **पतंग** की भी पूछ होती है और **पुच्छल तारा** भी होता है। इन सब प्रयोगों में स्पष्ट ही आरोप है, पर वह आरोप आँख से देखे किसी सादृश्य के कारण ही संभव हुआ है।

एक इन्द्रिय से जो अनुभूति होती है, उसका आरोप कभी-कभी दूसरी इन्द्रिय पर कर दिया जाता है। कान से सुन सकते हैं, स्वाद नहीं ले सकते। पर **मीठी बात, कड़ुए वचन** भी सुनाई देते हैं। गन्ध सूँघी जाती है, देखी नहीं जाती, पर तब भी **सुन्दर सुगन्ध** होती है। **अच्छ** शब्द का पुराना अर्थ साफ़, निर्मल है, पर अब **अच्छे शब्द, अच्छा स्वाद, अच्छी सुगन्ध** सभी इन्द्रियों के अनुभव हैं। आँखों का काम देखना है, स्पर्श नहीं। पर इष्टजन को देखकर आँखों को शीतलता का अनुभव होता है और **आँखें जुड़ाती हैं**। आँसू भी शीतल और उष्ण होते हैं।

हम अपने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से और व्यवहार से सजीवों के नाम निर्जीवों को दे देते हैं, उन सजीवों का कोई गुण या व्यवहार भर होना चाहिए। बिच्छू जन्तुविशेष है जो डँस लेता है तो बड़ा दर्द होता है। पहाड़ों पर एक पौधा होता है जिसके स्पर्शमात्र से दर्द पैदा हो जाता है; इस पौधे को भी **बिच्छू** का नाम दे दिया गया। बच्चे खेल में दोनों पैरों के बीच कोई डंडा दबाकर घसीटते चलते हैं और उसे **घोड़ा** कहते हैं। दीवाली के दिनों में **साँप** बिकते हैं जो केवल बारूद की छोटी सी बत्तियाँ ही होती हैं, पर दियासलाई के लगाते ही साँप का आकार धारण कर लेती हैं। **छछुन्दर** भी दीवाली में ही छूटती है। इसकी

छुछुन्दर से इतनी ही समता होती है कि यह भी उस जन्तु की तरह इधर-उधर दौड़ती-सी है।

हमारा ज्ञान स्थूल पदार्थों का अनुभव करके सूक्ष्म की ओर बढ़ता है, इसलिए जो शब्द स्थूल अनुभव का अर्थ बताते हैं, वही सूक्ष्म चीज़ों के लिए भी काम में आते हैं। **तौलना** गुरुत्व गुण-वाली चीजों का ही हो सकता है, आटा दाल फल तरकारी तौले जाते हैं, तुलादान में मनुष्य भी तौले जाते हैं। पिछले महायुद्ध में विलायती सिपाहियों के खाने के लिए तक पर गाएँ और बैल तौल दिए गए। पर बात भी तौली जाती है। गिनती का अर्थ गिनना है, एक दो तीन आदि और यह क्रिया प्रत्यक्ष होती है। पर इसी का आदर-सत्कार भी अर्थ हो गया, जैसे **उनकी महफ़िल में हमारी कोई गिनती नहीं, उनके सामने हमें कौन गिनता है?** हुक़्क़ा पिया जाता है, पानी भी पिया जाता है। जो आदमी बिरादरी से निकाल दिया जाता है, उसका हुक़्क़ा इस्तेमाल में नहीं आता, उसके हाथ का पानी भी नहीं पिया जाता। इससे इस तरह के प्रयोग शुरू हुए—**फ़लाँ का हुक़्क़ा पानी नहीं चलता, उसका हुक़्क़ा पानी बन्द है**। चावल और दाल मिलकर खिचड़ी बनती है, राधाकृष्ण का रंग होता है। इसी से अधेड़ आदमियों के आधे सफ़ेद आधे काले बालों को **खिचड़ी बाल** कहते हैं। और जब भाषा में दो तरह के शब्द मिलते हैं तो उसे भी **खिचड़ी भाषा** कहते हैं। वर्तमान भारत की अँगरेजी पढ़ी जनता खिचड़ी भाषा बोलती है। **चटक** का हिन्दी में अर्थ होता है चमकने वाला, जैसे **रंग चटक होता है या फीका**। इसी से अवधी में **चटक लोन** (अधिक नमक) प्रयोग में आता है और फिर **चटक लरिका,** तेज स्फूर्ति वाले

लड़के के अर्थ में बोला जाता है। चीज़ जितनी ही भारी होती है उतना ही उसका मूल्य बढ़ जाता है। प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि एक सेर आलू के दूने दाम दो सेर के लिए देने पड़ते हैं। इसी से हल्कापन बिना मूल्य का और भारीपन मूल्य का समझा जाता है। कालिदास ने भी कहा है—

रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।

इसी से **हलका आदमी** और **भारी आदमी** आदि प्रयोग निकलते हैं जिनमें वज़न का कोई सवाल नहीं, सवाल है अधिक गुणशालिता का या गुण-हीनता का। मानो गुण भी तौले जा सकते हैं। गान्धीजी दो हड्डी के आदमी हैं मगर हैं भारी और सेठ कस्तूरीमल हैं ढाई मन पक्के मगर हैं हल्के। इसी तरह **ठोस काम** या **ठोस सेवा** आदि प्रयोग हैं। जो लकड़ी आदि सीधी और बिना छेद की होती है वह अच्छी और उपयोगी समझी जाती है, टेढ़ी मेढ़ी छेदवाली बुरी समझी जाती है। इसी स्थूल अनुभव से अच्छा आदमी सीधा कहा जाता है और बुरा टेढ़ा। इन प्रयोगों में शरीर की गठन का कोई सवाल नहीं। पैनी छुरी चीज़ों को तत्काल काटती है और मुथरी नहीं काट पाती। इसी से बुद्धि भी तेज़ और गोठिल होती है। स्थूल **गाँठ** से दो मित्रों के बीच के मनोमालिन्य का नाम भी गाँठ पड़ा।

ज्ञानवाची सभी शब्द किसी-न-किसी स्थूल अनुभव से आए होंगे। संस्कृत की **ज्ञा** धातु से हिंदी जानना, **शोच** से सोचना, **मन्** से मानना आदि निकली हैं। पर ये संस्कृत की धातुएँ किन इन्द्रिय-जन्य अनुभवों से आई हैं यह नहीं कहा जा सकता। **मूल** शब्द प्रथम-ग्रन्थ के लिए प्रयोग में आता है, इसका स्थूल [illegible] जड़ है। **सूत्र** शब्द का स्थूल अर्थ डोरा है जिसमें चीज़ें पिरोई

जाती हैं, उसी से विचार और शब्द जिसमें पिरोए जायँ, वह सूत्र है। हिन्दी का **कुंजी** शब्द चाभी के अर्थ में स्थूलवाचक है, इसी से कठिन ग्रन्थों को खोलनेवाली पुस्तकों का नाम भी कुंजी है। **तह** पानी आदि के तल को कहते हैं। सूक्ष्मरूप के प्रयोग **'इस मामले की तह में जाओ तो पता चले कि बात क्या है।'** आदि इसी से चल पड़े हैं। **वंश** शब्द बांस का द्योतक है, उसी से कुल का द्योतक हुआ और फिर कुल की शाखाएँ, वृक्ष की शाखाओं की तरह निकलीं।

अशुभ-सूचक बातें बचा-बचाकर गोलमोल शब्दों में प्रकट की जाती हैं। मरने का जरा भी उल्लेख मन में दुःख पैदा करता है, इसी से इसको शरीर छोड़ देना, प्राण का निकलना, देहान्त, स्वर्गवास, पञ्चत्व-प्राप्ति आदि कहकर व्यक्त करते हैं। विधवापन की सूचना चूड़ी फूटना कहकर देते हैं। दिल्ली की ज़बान में किसी की बीमारी की सूचना **'उनके दुश्मनों की तबीयत नासाज़ है'** इन शब्दों से मिलती है, जिसका मतलब है कि इस बात को कहा भी नहीं जा सकता कि बीमारी ऐसी चीज़ उन तक जा फटकी। लाश को मिट्टी कहते हैं। मृत्यु के निमित्तों का भी नाम प्रत्यक्ष नहीं लिया जाता। साँप को **कीड़ा, रस्सी** आदि कहने का रवाज पड़ गया है। चेचक को **देवी** या **माता** कहा जाता है। इसमें भय के कारण पूजा का भी भाव मौजूद है।

कुछ बातों का उल्लेख असभ्य समझा जाता है, इनमें प्रातःकाल की दैनिक विशेष क्रिया आती है। इसी लिए उसे **दिसा, जंगल, टट्टी, पाख़ाना** आदि कहते हैं। पाख़ाना का वास्तविक अर्थ है पैरों की जगह अर्थात् पैर रखने की जगह, पर यह शब्द अब उस क्रियाविशेष के लिए रूढ़ हो गया है, इसलिए प्रयोग से

लगता है जो उसके संसर्ग में आई हैं। पालि में **पर्णाकार** शब्द उपहार के अर्थ में आता है। कारण शायद यही है कि उपहार हरे-हरे पत्तों में ढककर भेजा जाता होगा, जिस प्रकार आजकल भी बड़े दिन पर जी हुजूर, साहब लोगों को **डाली** लगाते हैं। हिन्दी में चिट्ठी और किताब के **पन्ने** को **पत्र** कहते हैं। इसका कारण यही है कि पूर्वकाल में काग़ज़ के अभाव में चिट्ठियाँ और पुस्तकें पत्तों (ताम्रपत्र, भूर्जपत्र आदि) पर लिखी जाती थीं। इस संसर्ग से, लिखी हुई चीज़ ही पत्र या पन्ना कहलाने लगी। घास के मैदान में क्रिकेट खेला जाता रहा है, उसी से बोई हुई घास के मैदान को शहरों के माली **किर्किट** कहते हैं, चाहे अब वहाँ टेनिस या क्रिकेट कुछ भी न खेला जाय। **हार्न** (सींग से बना हुआ) अब रबड़ और लोहे का भी बनता है। रुपए का लेन-देन करनेवाले अथवा अमीर लोग, अच्छे और सज्जन समझे जाते हैं। **महाजन** श्रेष्ठ पुरुष का वाचक था और वह हिन्दी में लेन-देन का काम करनेवाले का बोध कराता है। इसी तरह **साह** शब्द और **सेठ** शब्द भी **साधु** और **श्रेष्ठ** से सम्बद्ध हैं जो सज्जनता के द्योतक हैं।

देशवाचक और कालवाचक शब्द बहुधा समानार्थक होते हैं। संस्कृत का **अध्वन्** शब्द समय और फ़ासला दोनों का बोध कराता है। अरबी का **अरसा** शब्द फ़ासले का द्योतक था, पर अब उर्दू में समय के फ़ासले को बताता है, देश के फ़ासले को नहीं। हिन्दी बोलियों के **बार, बेर** (<वेला), **दाईं** (<दामन्) शब्द भी देश और काल की अभिन्नता बताते हैं।

शक्ति और दूसरों को हैरान परेशान करना इन दोनों बातों का साहचर्य सा है। **ओजस्वी** और **प्रतापी** शब्द उदाहरण-स्वरूप

हैं। दूसरी ओर स्वभाव की सिधाई, मूर्खता और कमजोरी साथ-साथ चलती दिखाई देती हैं। **ऋजुकः अस्याः पतिः** इस वाक्य में उस स्त्री के पति की सिधाई का ही अभिप्राय नहीं है, व्यंजना यह भी है कि वह इतना मूर्ख है कि वह अपनी पत्नी की धूर्तता और कुलटापन को समझ नहीं पाता। कोमलता और सज्जनता भी साथ-साथ चलती हैं और स्वभाव की दुष्टता और टेढ़ापन। **यह आदमी बहुत टेढ़ा है,** और **तिर्यग्योनि** ये दोनों उदाहरण स्पष्ट हैं।

कभी-कभी मनुष्य को सीधी संकेतित बात कहने से इतना असन्तोष होता है कि वह ठीक उल्टी बात कहकर अपना अभिप्राय प्रकट करता है। **जी हाँ! आप बड़े अक्लमन्द हैं,** अथवा **जी! आपकी विद्वत्ता से सभी परिचित हैं,** इत्यादि वाक्यों में बुद्धि और विद्वत्ता की प्रशंसा करना अभिप्राय नहीं है। मतलब उनकी गर्हणा का है। बच्चे को प्यार में जब हम **शैतान, बदमाश, दुष्ट, शरीर** आदि शब्दों से संबोधित करते हैं, तब उसके नटखटपने से खुश होकर ही। मित्रों में आपस में एक दूसरे को **गदहा, सुअर, बदमाश, उल्लू** आदि शब्दों से सम्बोधन करने की प्रथा दिखाई पड़ती है। कभी-कभी **बेटा, चचा** आदि शब्द भी सुन पड़ते हैं। ये सब स्नेहातिशय के परिचायक होते हैं न कि गाली गलौज के। गुजराती में नमक को **मीठुं** (मीठा) कहते हैं। हम हिन्दीवालों को यह बात अचरज की लगती है क्योंकि नमकीन और मीठे में अकाश-पाताल का अन्तर है। पर रसोई में यदि नमक न पड़ा हो तो वह फीकी होती है, मीठी नहीं। नमक डाल देने से वह स्वादिष्ट हो जाती है। नमक वह स्वाद (फीका का उल्टा) ला देता है, इसलिए उसका नाम मीठुं पड़ गया।

६. अर्थविकास की धाराएँ

पहले के व्याख्यानों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि अर्थ बदलता रहता है। इसको अर्थविकास कहना ठीक होगा। अर्थविज्ञान के प्रमुख मनीषी ब्रील के मत के अनुसार अर्थ का विकास तीन धाराओं में होता है—अर्थविस्तार, अर्थसंकोच और अर्थादेश। अर्थविस्तार का कारण किसी शब्द का एक से अनेक प्रसंगों में इस्तेमाल होना है, अर्थसंकोच का कारण इससे ठीक उल्टा होता है। जब कोई शब्द कई प्रसंगों में प्रयोग में आता हो और बाद को उनमें से कुछ में उसका प्रयोग बन्द हो जाय तो अर्थसंकोच होना स्वाभाविक है। अर्थादेश ऐसी परिस्थिति में होता है जिसमें प्रचलित प्रयोगों का बहिष्कार हो और नए प्रसंग में इस्तेमाल किया जाय। इस तरह अर्थादेश में अर्थसंकोच और अर्थविस्तार मूलरूप से उपस्थित है।

ऊपर अर्थ के अपूर्ण होने की ओर बार-बार ध्यान दिलाया गया है। किसी भी शब्द द्वारा जताया हुआ सारा भाव हमारी बुद्धि में व्यक्तरूप से नहीं रहता; उसमें से किसी प्रमुख अंश को हमारा दिमाग़ पकड़े रहता है; बाक़ी अंश छिपे से रहते हैं। पिछले व्याख्यान में क़लम शब्द के संकेतित मुख्य अर्थ और अन्तर्हित अन्य बातों का विवरण देकर यह बात साफ़ की गई है। अन्य उदाहरणों को देखने से यह बात और स्पष्ट हो जायगी।

संस्कृत के **तैल** शब्द का संकेतित अर्थ 'तिलों का सार था। यह सार एक द्रव पदार्थ था, खाने और शरीर पर मलने के काम में आता होगा। जलाया भी जाता होगा। बाद को

उसी तरह का पदार्थ सर्षप से भी निकला। इसके भी वही प्रयोग। वैधक की दृष्टि में प्रभाव में कुछ अन्तर भले ही रहा हो, स्वाद भी भिन्न था। एक मीठा, दूसरा कड़वा। गन्ध की तेज़ी भी भिन्न थी। मगर इस भेद की मात्रा की ओर बुद्धि ने ध्यान नहीं दिया, दोनों में जो समानता थी उसी पर ध्यान जमा और जो नाम 'तिल के सार' को दिया गया था वही सरसों के सार को भी दे दिया गया। तिल से सरसों ऐसे भिन्न पदार्थ से निकलने पर भी, भाषा के बोलनेवालों का ध्यान प्रयोग की समानता के कारण, समानता की ओर ही खिंचा रहा। बारीकी की ओर दृष्टि डालनेवालों ने प्रारंभिक इस्तेमाल के समय इस तैल शब्द के विस्तार पर कुछ आलोचना की होगी, कुछ फ़िक़रे कसे होंगे, कुछ हँसी भी उड़ाई होगी, मगर जनता ने इसकी कोई पर्वाह नहीं की और तैल शब्द सरसों के साररूप तरल पदार्थ के लिए भी चल पड़ा। आगे चलकर यह शब्द अलसी आदि अन्य पदार्थों के सार के लिए भी इस्तेमाल में आने लगा। अलसी का प्रयोग तिल और सरसों की अपेक्षा कम हुआ होगा, मगर प्रयोग की इस कमी की तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया गया। दृष्टि रही रूप की समानता, खासकर तरलत्व पर। अब मूँगफली का भी तरल सार तेल कहा जाता है, यद्यपि इसका इस्तेमाल केवल खाने में ही होता है, लगाने और जलाने में नहीं। ज़मीन के भीतर से खोदकर जो तरल ची[illegible] ...ली उसको भी 'तेल' ही कहा गया। इस तेल में औ[illegible] अलसी और मूँगफली के तेल में भेद की मात्रा [illegible] मिट्टी का तेल पेरकर नहीं निकाला जाता, [illegible] खोदने पर मिलता है, वह ज़मीन का सार[illegible] ...श्री·

के विधाता भी समझे जाने लगे, जिससे उनमें ईश्वरत्व का आरोप हुआ और इस शब्द का अर्थ विस्तृत हुआ। और फिर साधारण ईश्वर मालिक से परमेश्वर तक इस शब्द का अर्थ बढ़ता गया और आज अवध का मुसलमान भी ऊपर की तरफ़ हाथ उठाकर कहता है कि **"जो गोसइयाँ की मर्जी होई तउ अब की फसिल म सब रुपिया पटाइ देबा।"**

गंगा एक विशेष नदी का नाम है। भारतीय के मन में उसके लिए श्रद्धा और स्नेह की भावना है। यह हिमालय के गंगोत्तरी पहाड़ से निकलकर, बहुतेरी नदियों को शामिल करती हुई और अनेक नाम धारण करती, बंगाल की खाड़ी में लीन हो जाती है। यही नहीं कि इसके नाम पर अन्य नदियों के नाम पड़े (बरेली में **रामगंगा** है), बल्कि अन्य पवित्र नदियों को भी गंगा की संज्ञा दी जाने लगी है। चित्रकूट में **मन्दाकिनी** नदी है, मगर बहुधा वहाँ के निवासी और यात्री उसे गंगा ही कहते हैं। इस तरह इस व्यक्तिवाची शब्द का भी अर्थ विस्तृत हुआ है।

अर्थ-विस्तार के लिए, जैसा ऊपर बताया गया है, कोई ऐसी बात उस शब्द के प्रचलित अर्थ में होनी चाहिए, जो उस शब्द से बोध में आनेवाले अन्य पदार्थों पर लागू हो सके। यदि तैल शब्द के संकेतित अर्थ में सारत्व, द्रवत्व आदि गुण न होते तो उसका उतना विस्तृत अर्थ न हो जाता। समानता की कोई न कोई बात ज़रूरी है। जब हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं, तब भी एक सामान्य भाव उपस्थित रहता है। हिन्दी में **अँधेरा** शब्द का अर्थ प्रकाश का भौतिक अभाव है। सूरज अँधेरा हटाता है, लम्प भी उसे दूर करता है, रात उसे लाती है।

इस भौतिक अँधेरे के प्रभाव से इस शब्द के दूसरे प्रयोग चले होंगे। जैसे दीपक के हटने से घर में अँधेरा छा जाता है, उसी तरह जवान बेटे के देहान्त से भी घर में अँधेरा छा जाता है। पर इस अँधेरे में और भौतिक अँधेरे में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसी तरह जब हम कहते हैं कि **'शरीर तो अँधेरी कोठरी है, इसके भीतर क्या हो रहा है, इस बात का किसी को क्या पता ?'** तब हम भौतिक अँधेरे की बात नहीं कहते, जताना चाहते हैं अज्ञानरूपी अंधेरा। इसी तरह **उजाला, उजागर** आदि शब्दों का भी अर्थ विस्तृत हुआ है। **उज्ज्वल** (उजला) शब्द का संस्कृत में अर्थ था चमकीला। पर हिन्दी में **उजला** शब्द सफ़ेद के अर्थ में विस्तृत हो गया, चमक की सीमा हट गई है। **उजाला** में मौलिक अर्थ का आभास अब भी मिलता है।

अरबी **अक़्ल** शब्द का अवधी रूप **'अक्किल'** केवल बुद्धि के अर्थ में सीमित नहीं रहा। उसका अर्थ बुद्धि से किए गए कामों तक विस्तृत हो गया है। संस्कृत के **अनुकूल** और **प्रतिकूल** शब्द किनारे से सम्बन्ध रखते हुए शुरू हुए, पर उनका अर्थ इतना विस्तृत हो गया कि **कूल** (किनारे) का ध्यान भी इनका इस्तेमाल करते समय हमारे दिमाग़ में नहीं आता। संस्कृत **अर्चिः** शब्द ज्वाला, लौ के अर्थ में आता था, ज्वाला से गर्मी निकलती है, इसलिए उसका अर्थ विस्तृत होकर गर्मी, ताप के संकेत में भी चल पड़ा, और हिन्दी में **आँच** शब्द केवल भौतिक ज्वाला और गर्मी का ही बोध नहीं कराता, किसी ज़ालिम के द्वारा दिए गए कष्ट का भी संकेत करता है। **'हमको बराबर आश्वासन मिलता रहा है कि आप पर आँच नहीं**

आने देंगे।' ऐसे प्रयोगों में आग की आँच का सवाल ही नहीं उठता। संस्कृत का **अंचल** शब्द कपड़े के छोर के अर्थ में आता था। अवधी में यह शब्द (**आँचर**) स्त्री के स्तन के अर्थ में चला और फिर मा के दूध के लिए भी। अंचल छाती को ढकता है, ढकी हुई चीज़ के लिए कोई गोलमोल वचन चाहिए थे, वह वस्त्र ही छाती बन बैठा और फिर उसके स्तन्य बनने में देर न लगी।

इन्द्रजाल का अर्थ प्राचीन काल में इन्द्र के रचे माया-मोह आदि साधनों का था। बाद को उस शब्द का अर्थ विस्तृत होकर राक्षसों के जादू का बोध कराने लगा और फिर सभी आदमियों के जादू का।

उत्तर शब्द का मौलिक अर्थ था बादवाला। इस शब्द का एक सीमित अर्थ **'उत्तर दिशा'** में मिलता है, पर इसी का एक विस्तृत अर्थ 'जवाब' है जिसमें मौलिक अर्थ की भावना मौजूद है। प्रश्न के उपरान्त उत्तर होता है, और पत्र के भेजने के उपरान्त उत्तर आता है। **और** शब्द संस्कृत के **अपर** शब्द से सम्बद्ध है जिसका अर्थ था दूसरा, अन्य। इसी शब्द का विकसित हिन्दी रूप **'और'** अब केवल समुच्चय-बोधक अव्यय का काम देता है जो संस्कृत में **च** के प्रयोग से निकाला जाता था। अपर का यह अर्थ क्रम से आया होगा। संस्कृत में पर शब्द भी दूसरा, अन्य का बोधक है, अपर शायद उस दूसरे से भी दूसरे के लिए काम में लाया गया होगा (**न परः इति**)। फिर वह बढ़ते-बढ़ते और से भी और का बोध कराने लगा। हिन्दी में **'और'** सर्वनाम या विशेषण रूप से अब भी 'अन्य' का संकेत करता है।

हिन्दी का 'कटहरा' शब्द मूलरूप से काठ-घर रहा होगा अर्थात् काठ का बनाया हुआ घर या बाड़ा। अब इस शब्द का अर्थ इतना विस्तृत हो गया है कि इससे काठ, लोहा, ईंट किसी के बाड़े का बोध हो सकता है। शेर कटहरे में बन्द रहता है, वह लोहे का ही होता है। इस कटहरे में पूरी भावना घर की भी नहीं होती। नेपाल में **कटघरा** एक लकड़ी का कुन्दा-मात्र होता है जिसमें अभियुक्त का पैर डालकर ताला लगा दिया जाता है जिसमें वह इधर-उधर आ-जा न सके। अवधी में करू शब्द कटु स्वाद के ही लिए नहीं आता **तिक्त** (तीता) के लिए भी आता है। मिर्च भी करू होती है और नीम की पत्ती भी। स्पष्ट ही इस प्रयोग में अर्थ-विस्तार हुआ है। हिन्दी की धातु **कसना** ढीला करने के उल्टे अर्थ में इस्तेमाल होती है। पेंच कसे या ढीले किए जाते हैं। कमर कसने में अर्थ का विस्तार होने पर भी मौलिक अर्थ से कुछ सम्बन्ध मालूम पड़ता है, यद्यपि यदि हम वैरी का मुकाबला करने को तैयार होते हैं तो हमेशा लँगोट या पेटी बाँधकर भौतिक रूप से अपनी कमर नहीं कसते। पर हिन्दी में एक और प्रयोग इस कसना क्रिया का होता है जहाँ कसना के मौलिक अर्थ का आभास केवल अलंकार में है। जब कोई सेठ साहूकार किसी मजदूर से मजदूरी तय कर रहा हो और मामला तय होने के नजदीक हो, तब यदि सेठ अपने पक्ष में और बचत करना चाहता है, तब मजदूर कह देता है 'सेठजी अब न कसो, बहुत दबा लिया।' यहाँ पर स्पष्ट ही भौतिक कसना कोई मतलब नहीं रखता। मानसिक 'कसना' शायद रहा हो।

कन्धा शब्द संस्कृत स्कन्ध का हिन्दी रूप है। बोझ कन्धे

पर रक्खा जाता है। समुदाय में रहनेवाले मनुष्यमात्र का कर्तव्य है कि दूसरे के बोझ उठाने में कन्धा लगाकर मदद करे। छप्पर के ऊँचा करने में कन्धा लगता है, मृतक के शरीर में भी कन्धा लगाया जाता है। इन सब प्रयोगों में भौतिक कन्धे से सम्बन्ध है, लेकिन अलंकार रूप से मुहाविरे के बोल चाल में **कन्धा लगाना** का अर्थ केवल मदद करना, सहारा देना है। यह अर्थ विस्तार हुआ है।

हिन्दी में **काग़ज़** शब्द का अर्थ होता है, वह पदार्थ जिस पर लिखा पढ़ा जाय। यह पतला होता है और अकसर आसानी से फाड़ा जा सकता है। इन दो बातों को लेकर काग़ज़ शब्द का सम्बन्ध बादाम और नीबू से भी जोड़ दिया गया है और हम **काग़ज़ी बादाम** और **काग़ज़ी नीबू** का इस्तेमाल करते हैं। स्पष्ट ही लिखने पढ़ने के काग़ज़ से इस बादाम और इस नीबू का कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार जहाँ **काग़ज़ी कार्रवाई** आदि प्रयोग थे वहाँ ये प्रयोग भी अर्थ-विस्तार के उदाहरण हैं। **कांचन** या **सोना** धातुओं में सब से बढ़िया और क़ीमती समझा जाता है और **लोहा** सब से अधिक मज़बूत। इसी बात को लेकर अलंकार की भाषा में बहुत गुणवाले व्यक्ति को सोना और बहुत मज़बूत चीज़ को लोहा कहने लगे। **'मेरा शरीर लोहा है लोहा, आकर कोई भिड़े तो', 'रयदास थे तो नीच कुल के, पर थे कांचन'** इन प्रयोगों में लोहा और कांचन शब्दों का अर्थ विस्तृत हुआ है। संस्कृत **कीट** शब्द का विकसित हिन्दी रूप **कीड़ा** है। जहाँ हिन्दी में इस शब्द का सामान्य अर्थ प्रयोग में आता है वहाँ इसका एक संकुचित सीमित अर्थ 'साँप' भी हिन्दी में चलता है। परन्तु नैपाली में इस शब्द का अर्थ-

विस्तार हुआ है। **किरो** शब्द उस भाषा में बाघ के लिए भी आता है। **खरा** शब्द हिन्दी में असली, खोटे से उल्टे के लिए काम में आता है। आपने **खरा सोना** और **खोटा सोना** दोनों देखे होंगे। फिर इन शब्द को मनुष्यों के विषय में भी इस्तेमाल करने लगे। यह **आदमी खरा** है, वह **खोटा**। अर्थात् इसमें मनुष्योचित गुण सचाई, ईमानदारी आदि पाए जाते हैं, उसमें झूठ, बेईमानी आदि दुर्गुण। स्पष्ट ही इन प्रयोगों के आधार पर कुल भी खरे और खोटे होने लगे और सक्सेना तथा श्रीवास्तव कायस्थों में दो अलग-अलग उपकुल होते हैं, खरे सक्सेना और खरे श्रीवास्तव तथा दूसरे सक्सेना और दूसरे श्रीवास्तव। पर मनोरंजक बात अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से यह है कि खरे श्रीवास्तव और खरे सक्सेना, दूसरों से हीन और नीचे माने जाते हैं।

हिन्दी में **गाँठना** शब्द आता है, जिसका सम्बन्ध संस्कृत की **ग्रथ** धातु से है। इसका अर्थ होता है, मिलाना। हिन्दी में इसका प्रयोग अब बहुधा '**जूता गाँठना**' आदि में मिलता है और यहाँ भी यद्यपि अर्थ जोड़ने, मिलाने का स्पष्ट है तब भी मरम्मत करने का प्रधान है। किन्तु इसका अर्थ '**मतलब गाँठना**' में विस्तृत हुआ है। संस्कृत की **ग्रस्** धातु का अर्थ है खाना, पकड़ना, मगर इसी से सम्बद्ध हिन्दी धातु **गाँसना** का मतलब होता है चारों तरफ़ से घेरकर मजबूर कर देना। पकड़ने के लिए घेरना आवश्यक होता है, इसी से शायद इस शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ है। संस्कृत का **गात्र** शब्द शरीर के अर्थ में आता है, इसी से सम्बद्ध नैपाली का **गाता** शब्द है जो उन लकड़ी या दफ़्ती के तख़्तों का संकेत करता है जो हस्तलिखित पोथी को सुरक्षित रखने के लिए उसके ऊपर और नीचे

रखे जाते हैं। काम वही है जो शरीर आत्मा के प्रति करता है, पर अर्थ का विस्तार स्पष्ट है। हिन्दी के **गुहार, गोहार** शब्द का अर्थ है मुसीबत में पड़े हुए आदमी की पुकार, शरण पाने के लिए, मदद पाने के लिए। इस शब्द का संस्कृत के **गो-धार (-ण)** शब्द से सम्बन्ध है। ऐसा मालूम होता है कि गायों को चुराने के लिए डाकू लोग छापा मारा करते थे और इसका ज़रा भी संकेत मिलने पर गाँववाला पुकार लगा देता था जिस से सचेत होकर सब लोग मिलकर अपने गोधन की रक्षा कर लेते थे। धीरे-धीरे यही पुकार का शब्द ख़तरे के दूसरे मौक़ों पर भी काम में आने लगा और आज हिन्दी में **गुहार** शब्द का कोई भी सम्बन्ध **'गाय'** से नहीं है। चावल और गेहूँ तथा लकड़ी में **घुन** लगकर उनको ख़राब कर देता है। चावल और गेहूँ के घुन से लकड़ी का घुन भिन्न होता है, तब भी इस अर्थ-विस्तार में बहुत अन्तर नहीं है। किन्तु जब हम किसी आदमी को बराबर दुबला होता देखते हैं तब कहते हैं कि इसके शरीर में घुन लग गया। यहाँ पर गेहूँ, चावल, लकड़ी में लगनेवाले घुन से इस घुन की केवल परिणाम की समानता है, और कोई नहीं।

हिन्दी में **चकला** शब्द कई अर्थों में आता है, एक तो वेश्याओं के रहने का स्थान, दूसरा खेतों का एक चौकोर समुदाय, तीसरे लकड़ी या पत्थर का वह तल (पटा) जिस पर बेलन से रोटी बेली जाती है। इस शब्द का सम्बन्ध संस्कृत के **चक्र** शब्द से है। चकला का मौलिक अर्थ विस्तृत हुआ घेरे की विस्तृत जगह में, संकुचित का उल्टा, कुछ फैला फैला स्थान। अचरज की बात है कि **चक-ला,** में गोलाकार का भाव बिल्कुल मिट

गया। और बेलनवाले पटा के अर्थ में यद्यपि गोलाकारत्व मौजूद है तब भी लकड़ी और पत्थर के टुकड़े पर इस शब्द का प्रयोग अर्थ-विस्तार का एक सुन्दर उदाहरण है। हिन्दी का **चपरा** (**चापर**) शब्द संस्कृत के **चर्पट** शब्द से सम्बन्ध रखता है और उसका अर्थ है साफ़ सुथरी जगह जहाँ खर पतवार न हो। यहाँ कोई अनिष्ट का संकेत नहीं। आदमी चपरी जगह बैठना पसन्द करता है, खर पतवार वाली में नहीं। इसी शब्द का एक दूसरा प्रयोग हिन्दी में आता है जहाँ बुराई का संकेत होता है। जब कोई काम बहुत बिगड़ जाता है तब कहते हैं **अरे चपरा कर दिया**। इस में बर्बादी का भाव है। मौलिक अर्थ से तन्तु केवल इस बात में है कि यहाँ कोई चीज़ जम नहीं पाई, बन नहीं पाती। पर समानता इस अर्थ-विस्तार में है बहुत सूक्ष्म। **गोष्ठम्** शब्द का अर्थ गाय के रहने की जगह था, बाद को किसी भी जानवर के रहने की जगह के लिए यह शब्द काम में आने लगा। पतंजलि ने महाभाष्य में **गोगोष्ठम्, अविगोष्ठम्** उदाहरण दिए हैं। इसी तरह **गोयुगम्** का अर्थ था गाय या बैल की जोड़ी लेकिन बाद को इसका अर्थ विस्तृत होकर जोड़ी मात्र रह गया। **उष्ट्र गोयुगम्** और **खरगोयुगम्** उदाहरण हैं।

अर्थ-संकोच का मूल कारण यह है कि शब्द में अर्थ-बोध की असीम शक्ति है, अतुल विस्तार है और इस कारण अनिश्चयात्मकता है।

अर्थ-संकोच के भी बहुतेरे उदाहरण दिए जा सकते हैं। **रदन** का मौलिक अर्थ फाड़ने, काटनेवाला था। पत्थर की नोक, छुरी की धार, नाख़ून, दाँत ये सभी पदार्थ फाड़ने का काम करते हैं। अर्थ की दृष्टि से ये सभी रदन होने चाहिए थे। किन्तु रदन शब्द

का अर्थ सीमित हो गया दाँत में। शायद इसलिए कि यह सर्वसुलभ, सर्वप्रयुक्त और सर्वश्रेष्ठ साधन था। इसी तरह नेत्र शब्द का वास्तविक अर्थ था चमकनेवाला, प्रकाश करनेवाला, चिलकनेवाला आदि। धीरे-धीरे यह शब्द सीमित हो गया आँख के लिए। आँख में ये सभी गुण उपस्थित हैं और यही आँखों का [illegible] नेना है। **सर्प** शब्द का सम्बन्ध है सृप् धातु से जिसका अर्थ है रेंगना और इस विचार से साँप, केंचुआ, गिजाई आदि सभी इस तरह के जीवों का बोध सर्प शब्द से होना चाहिए था। फिर आदमी का बच्चा भी बचपन में रेंगता ही चलता है और मनुष्य को बड़े होने पर भी कभी-कभी रेंगना पड़ता है। आप लोग जनरल डायर के हुकुम से जलियानवाला बाग़ में पंजाबियों के रेंगने की बात भूले न होंगे। फिर ये सभी क्यों सर्प नहीं हो गये? स्पष्ट ही इस शब्द का प्रयोग ऐसे जीवों पर किया गया जिनका रेंगना स्वाभाविक धर्म था, नैमित्तिक नहीं, और उनमें भी ऐसों पर जो मनुष्य की दृष्टि में मुख्य रेंगने वाले थे। जाहिर है कि अपनी भयानकता और शरीर-परिमाण के कारण साँप ने मनुष्य का ध्यान अपनी ओर खींचा। केंचुआ और गिजाई की कौन पर्वाह करता है? इस शब्द के अर्थ-संकोच का यही कारण रहा होगा। **चटनी** शब्द का अर्थ खड़ी बोली में चाटने योग्य पदार्थ के लिए काम में आता है, इस लिए जहाँ आम और इमली या अनार दाना या अंगूर की चटनी होती है, वहाँ धनिया या पुदीना की भी चटनी होती है। परन्तु अवधी में चटनी खट्टी या खटमिट्ठी होनी चाहिए, इसलिए धनिया या पुदीना की चटनी यहाँ सम्भव नहीं। इस तरह एक ही शब्द पच्छिमी हिन्दी में विस्तृत अर्थ में लेकिन पूरबी में संकुचित अर्थ में प्रयोग में वर्तमान है। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण

मिठाई शब्द है। अवधी में हलवाई की दूकान पर बनी हुई जलेबी, गुलाबजामन, पेड़ा-बर्फी आदि मिठाई हैं ही, गुड़ भी मिठाई कहलाता है। पच्छिमी हिन्दी में गुड़ को मिठाई कहना अपनी हँसी कराना है। इस शब्द का अवधी में विस्तृत अर्थ में प्रयोग है और पच्छिमी हिन्दी में संकुचित अर्थ में।

अकाल का अर्थ संस्कृत में था बुरा समय। यह अर्थ भी **काल** शब्द के अर्थ-संकोच के बाद हुआ होगा, क्योंकि काल का अर्थ था समय, फिर सुसमय हुआ और उसके उपरान्त अकाल वह जो सुसमय न हो यानी बुरा समय। हिन्दी में अकाल शब्द का अर्थ है दुर्भिक्ष, जिसमें अन्न का कष्ट हो। **अच्छत** शब्द का सम्बन्ध सं० **अक्षत** से है, जिसका अर्थ होता है सम्पूर्ण, जिसके अंग में कोई क्षति न पहुँची हो। अब इस शब्द का अर्थ सीमित हो गया है चावल के उन समूचे कणों के लिए, जो किसी संस्कार या पूजा के समय देव या मनुष्य के ऊपर फेंके जाते हैं। **अखाड़ा** शब्द के अर्थ-संकोच का इतिहास बहुत मनोरंजक है। मौलिक रूप से इसका अर्थ था कोई घेरा जो चारों ओर डंडे (**अक्ष**) खड़े करके बनाया जाय, फिर इसका अर्थ-विस्तार हुआ किसी भी घेरे के लिए चाहे उसकी मुँडेर मिट्टी की ही बनी हो। इसके बाद कोई भी ऐसा स्थान जहाँ बहुत से लोग एक काम के लिए इकट्ठा हों। फिर इसका अर्थ हुआ जमाव, समुदाय यथा(**परियों का अखाड़ा**) और इस समय इस शब्द का अर्थ है 'कुश्ती लड़ने का स्थान'। आसामी में इस शब्द का रूपान्तर **आखरा** है और उसका अर्थ है 'नाटक खेलने की तैयारी'। **अग्निसंस्कार** का सीमित अर्थ मृत शरीर को आग में जला देने का ही रह गया है। हिन्दी का **अग्यारि** शब्द सं० **अग्नि-चर्या**

से सम्बद्ध मालूम पड़ता है। अग्निचर्या में पूरे यज्ञ का विधान रहता था, मगर अग्यारि तो अब केवल आग के अंगारे पर जरा सा गुड़ या नाममात्र की हवन सामग्री का डाल देना भर रह गई है। हिन्दी का **अजहूँ** सं० **अद्यापि** (आज तक) का समानार्थक था, पर अब 'अब तक' के अर्थ में सीमित हो गया है। **अधर** शब्द का अर्थ था नीचेवाला, पर वह संस्कृत में ही नीचेवाले ओठ के लिए सीमित हो गया था। हिन्दी में भी सीमित है। **अन्नप्राशन** का मौलिक अर्थ था अन्न का खाना, अच्छी तरह खाना। लेकिन अब यह शब्द बच्चे के सर्वप्रथम अन्न ग्रहण करने के संस्कार के लिए संकुचित अर्थ में ही आता है। अकाल की तरह **अलक्षण** शब्द में भी लक्षण का संकुचित अर्थ हुआ अच्छा लक्षण और फिर अलक्षण का बुरे लक्षण वाला और अभागा। हिन्दी **अलाप** सं० **आलाप** से सम्बन्ध रखता है। संस्कृत में उसका अर्थ था बोलनाचालना, बातचीत। हिन्दी में अलाप शब्द का सीमित अर्थ है गाने की वह विशेष तान, जो पक्का गवैया गाते समय बीच-बीच में भरता है। हिन्दी **आँव** शब्द संस्कृत के **आम** शब्द से विकसित हुआ है, जिसका अर्थ संस्कृत, पालि आदि में था 'कच्चा' (**आमं पक्कंव अरुहना**)। लेकिन हिं० में यह शब्द अपच से हुई पेचिश से उत्पन्न हुए आँतों के मवाद के लिए काम में आता है। हिं० **आलू** शब्द संस्कृत के आलु से सम्बद्ध है, जिसका अर्थ था पौधे की जड़ में संलग्न गोल से खाद्य पदार्थ का। **अरुई** और **रतालू** में यही शब्द है। परन्तु हिन्दी में आलू शब्द का अर्थ सीमित हो गया एक ऐसे विशेष पदार्थ के लिए जो इस देश में १६वीं सदी में बाहर से आया। सं० **इन्द्रिय** शब्द आँख, कान, नाक आदि

सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का बोधक था, मगर हिन्दी बोलियों में इस शब्द (इन्द्री) का संकुचित अर्थ है पुरुष या स्त्री की जननेन्द्रिय। सं० **उपाय** शब्द का वही अर्थ था जो तर्कीब का है। मगर अवधी में इस शब्द का अर्थ सीमित हो गया है ऐसी तर्कीब के लिए जिसमें बुद्धि का विशेष कौशल हो और **उपाई (उपायी)** का अर्थ है चालाक, होशियार। सं० **कलश** का अर्थ वही है जो **घड़ा (घट)** का। हिन्दी में यह सं० तत्सम शब्द अब केवल संस्कारों या धार्मिक कृत्यों में रक्खे हुए विशेष घट के लिए ही काम में आता है, उसका तद्भवरूप **(कलसा)** पीने आदि के पानी के रखने के लिए **गगरा** आदि के अर्थ में। अवधी **कुबेरा, कुबेरिया** का सम्बन्धी सं० **कुबेला** से है जिसका अर्थ था बुरी बेला और यह किसी भी समय हो सकती थी। मगर अवधी में कुबेरा, कुबेरिया का अर्थ सन्ध्या समय का है जब अँधेरा फैलने लगता है और जब तक लड़के लड़कियों को खेलकर घर वापस आ जाना चाहिए। हिन्दी **कुल्फी (क़ुफली)** का अर्थ सीमित है एक डिब्बी में बन्द किए हुए दूध के बर्फ के लिए, जिसमें न **क़ुफ़ुल** (ताला) लगता है न चाभी। क़ुफ़ुल लगाने से जो अभिप्राय (बन्द कर देने का) सिद्ध होता है, उसकी समानता अवश्य है। हिं० **खाजा** सं० **खाद्यक** का विकसित रूप है। खाद्यक का अर्थ था कोई भी खाने की चीज़। आज भी नैपाली भाषा में दो भोजनों के बीच में किए गए हल्के भोजन के अर्थ में यह शब्द प्रयोग में आता है, प्रायः उसी अर्थ में जिसमें हिन्दी **नाश्ता या जलपान**। मगर हिं० खाजा का संकुचित अर्थ है एक विशेष खाद्य पदार्थ, एक विशेष मिठाई। हिन्दी **गाढ़ा,** पतला के उल्टे अर्थ में काम आता है, **गाढ़ा दूध, पतला दूध**

आदि। इसका एक सीमित अर्थ हाथ से बुने हुए मशीन के सूत के कपड़े का विशेष रूप से हिन्दी में वर्तमान है। **गोरा** शब्द का अर्थ है गोरे रंगवाला और इसका यह अर्थ मनुष्यों के रंग का विवेक करने के लिए बराबर हिन्दी में चलता है। मगर इधर 'गोरा' से बहुधा अँगरेज सिपाही का ही बोध होता है। संस्कृत का **घृत** शब्द मूल रूप से किसी भी टपकी हुई, चुई हुई चीज के लिए आता था, पर जल्द ही वह घी के अर्थ में सीमित हो गया। **घृणा** संस्कृत में। दया और नफ़रत दो अर्थों में था, हिन्दी में केवल दूसरे में **वर** शब्द पसन्द की हुई, माँगी हुई किसी चीज के लिए काम में आता था, लेकिन शीघ्र ही उसका अर्थ देवता से माँगी हुई माँग और कन्या के लिए चुने हुए पति के लिए संकुचित हो गया। **वाग्दान** का संकुचित अर्थ वर या कन्या के विवाह का वचन देना है। **वैदेही** और **वैदर्भी** क्रमशः विदेहवाली और विदर्भवाली के द्योतक थे। संकुचित होकर ये विदेह जनक की पुत्री सीता और विदर्भराज भीम की पुत्री दमयन्ती के बोधक हुए। **वैदर्भी** विदर्भ की रीति का भी बोध कराता है। ये थोड़े से उदाहरण अर्थ-संकोच के हैं।

अर्थादेश के बारे में ऊपर बताया जा चुका है कि यह अर्थ-विकास की उस अवस्था का नाम है जब शब्द का प्रयोग प्रचलित प्रसंगों में समाप्त हो चुका हो और नया प्रसंग चल पड़ा हो। इस विषय में **दुहितृ** शब्द का उदाहरण बहुधा दिया जाता है। मौलिक रूप से इस शब्द का सम्बन्ध दुह्-धातु से है। इससे अनुमान होता है कि प्राचीन आदिम आर्य के कुटुम्ब में गाय के दुहने का काम सयानी लड़की करती थी। धीरे-धीरे

का सम्बन्ध **आघ्रा-** से है, जिसका अर्थ था सूँघना (**अनाघ्रातं पुष्पम्**)। लेकिन 'अघाना का अब अर्थ है सन्तृप्त होना। शिव का एक नाम **अघोर** भी था और **अघोरी** शिवजी के चेले या भक्त को कहते थे। धीरे-धीरे अघोरी से अभिप्राय शिवजी के भक्तों और अनुयायियों के एक गण का हो गया जो मरघट की धूल लगा, मुंडमाला पहने और मरे या जीते साँप लटकाए हुए दिखाई पड़ते थे। किन्तु आज हिन्दी में अघोरी शब्द का अर्थ है मैला कुचैला और **अघोर** का अर्थ है मैल, गन्दगी। इस अर्थ का शिवजी से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। अवधी में **अँचवब** धातु मिलती है जिसका सम्बन्ध सं० **आ-चाम्**— से है जिसका अर्थ था पीना और जिसका आभास **आचमन** शब्द में अब भी मिलता है। परन्तु अवधी शब्द का अर्थ कुल्ला करना है, पीना नहीं। ऐसा लगता है कि धार्मिक क्रिया आचमन में यजमान और पुरोहित पानी मुँह तक ले जाकर गिरा देते होंगे; जिससे पीने की बात खतम ही हो गई और कुल्ली करने का अर्थ आ गया।

हिं० **अटना** का सम्बन्ध सं० **आर्तः** से है जिसका अर्थ था पीड़ित। जो आदमी तकलीफ़ में होता है वह दबता है, उसे लोगों ने सताया है, दबाया है। धीरे-धीरे पीड़ा का अर्थ उड़ता गया और दबने का अर्थ उभरता चला, यहाँ तक कि अब अटना में पीड़ा का आभास भी नहीं और केवल समाने का अर्थ मिलता है। सं० **अट्टाल-** शब्द का अर्थ था ऐसा मीनार जिसके ऊपर से आनेवाले डाकुओं या दुश्मनों के बारे में जानकारी मिल सके। सिंहली में यही अर्थ अब भी मिलता है। हिं० में इसका सम्बन्ध **अटारी** शब्द और **टाल** शब्द से है।

अटारी (सं० अट्टालिका) का अर्थ है, छत, छज्जा या छत के कमरे। ये अर्थ पाइयाली संस्कृत में भी मिलते हैं। इनमें महल— की ऊँचाई भाव रह गई और सब चला गया। टाल शब्द का अर्थ है ढेर, ऊँचा ढेर। प्रयाग में अटाला एक मुहल्ला है जिसका मौलिक महल— से अब कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता।

अवधी अनवाद का अर्थ है शरारत; इसका सम्बन्ध सं० अन्यवाद से स्पष्ट है। प्रतिस्पर्धी के वाद में शरारत हो इसका जब तक स्पष्ट प्रमाण न हो, कोई न्याय-प्रिय मनुष्य 'अन्यवाद' को शरारत नहीं मान सकता। साफ मालूम होता है कि इस अर्थ के आदेश में एक पक्ष की भ्रान्त भावना छिपी है। अवधी का दूसरा शब्द द्वन्द भी शरारत, शोर गुल के अर्थ का द्योतक, द्वन्द्व से सम्बन्ध रखता है। अनवाद और द्वन्द शब्दों से मालूम पड़ता है कि शरारत तभी आती है जब दो पक्ष हों और विशेष प्रतिस्पर्धी हों। अनोखा का सम्बन्ध अनपेक्षित से है जिसका अर्थ था जिसकी अपेक्षा न हो, जिसकी आशा न हो या जिसकी इच्छा न हो। इन साधारण बातों से चलकर शब्द के अर्थ का आदेश 'अजीब' हो गया।

अंजाम का मौलिक अर्थ फल-परिणाम है, यही अर्थ उर्दू में मौजूद है, मगर इसी का अर्थ नैपाली में अन्दाजा, इन्तजाम आदि हो गया है। यह अर्थ-भेद शायद विदेशी शब्द का ठीक अर्थ न समझने से हो गया है। अर्थ धातु के प्रेरणार्थक रूप का मतलब संस्कृत में था अर्थ-बताना, समझाना, मगर अवधी में अर्थाव का अर्थ होता है बहुत धीरे मन्दगति से बोलना। किसी चीज का अर्थ करते समय वक्ता समझाने

के लिए मन्दगति से बोलता है, इसमें मन्दगति का भाव मुख्य पड़ गया और अर्थ करने का खो गया। **अर्धाङ्ग** का अर्थ पत्नी होता है जो इस अलंकार पर निर्भर है कि पति और पत्नी दोनों मिलकर पूर्ण अङ्ग होते हैं। **अँगवन** का सम्बन्ध अङ्ग-धातु के प्रेरणार्थक से है जिसका अर्थ किसी समय स्वीकार करना रहा होगा (**अङ्गीकरोति** में यही भाव है)। परन्तु आज अवधी में इस शब्द का अर्थ चुपचाप निर्विरोध सहने का है। संस्कृत में **आर्य** शब्द का अर्थ था प्रशस्त, श्रेष्ठ। इसका अर्थ संकुचित होकर, पिता, श्वशुर, अग्रज हो गया। फिर ऐसा लगता है कि विशेषरूप से इसका अर्थ श्वशुर तक सीमित हो गया। संस्कृत के नाटकों में **'आर्यपुत्र'** सम्बोधन पति के लिए होता था। इसी आर्य शब्द का हिन्दी रूपान्तर **आजा** दादा का बोध कराता है। आज पुत्रवधू किसी को आजा नहीं कहती, पोते आजा कहते हैं। आड़ शब्द में बहुत अर्थादेश हुआ है। यह पहले बाधा के अर्थ में आता था जो अर्थ आड़े या आड़े समय में काम आने के मुहाविरे में अब भी मौजूद है। फिर इसका अर्थ बाधावाले स्थान का हो गया, और फिर शरण का स्थान; क्योंकि बाधा के स्थान में ही पहुँचकर कोई शरण दे सकता है और फिर इसका अर्थ शरण रक्षा हो गया, यथा **चर्चिल की आड़ में जो देश की स्वतन्त्रता रोके थे उनकी आज किरकिरी हो रही है।**

आढ़त शब्द का सम्बन्ध **आढ्यत्व** से मालूम पड़ता है, यद्यपि इसका स्त्रीलिंग में होना चिन्त्य है। आढ्यत्व का अर्थ होता है अमीरी, सम्पन्नता। आढ़त करनेवाले बहुधा सम्पन्न

होते हैं, इसी लिए शायद यह अर्थ का आदेश संभव हुआ होगा। **आप** का स्पष्ट विकास **आत्मन्** से हुआ है जिसका अर्थ संस्कृत में निजवाचक है, वही जो हिन्दी **अपना** में मौजूद है या बोलियों में **अपा** (खुदी) में भी मिलता है। यह निजवाचक सर्वनाम कैसे मध्यमपुरुष का आदरवाचक हो गया, यह जरा अचरज की बात है। **आबरू** का मौलिक अर्थ है चेहरे की आब, चमक, पर इसका भारतीय भाषाओं में अर्थ हो गया इज़्ज़त, मान, प्रतिष्ठा। बेइज़्ज़ती से चेहरा फीका पड़ जाता है, इज़्ज़त होने पर उसमें चमक आ जाती है, यही इस अर्थादेश का कारण हो सकता है। हिं० **आरसी** का विकास सं० **आदर्श** से हुआ है, जिसका अर्थ है मुँह देखने का आईना, शीशा। आरसी छोटा शीशा रही होगी। लेकिन अब हिन्दी में आरसी हाथ का एक आभूषण है, उसमें एक छोटा शीशा अवश्य जड़ा रहता है। **इतराना** का विकास सं० **इत्वर** से है, जिसका अर्थ है गमनशील, जानेवाला। इसी से जल्दबाजी का भाव इससे लग गया। जल्दी जाने वाले में थोड़ी मात्रा अहंकार की रहती है, इससे मुख्य भाव जाने का ग़ायब हो गया और इतराना किसी छोटी सी समृद्धि या सफलता पर अहंकार के प्रदर्शन का अर्थ बताता है। अवधी के **इँदारा, इनारा** (हिं० कुँआ) शब्द का सम्बन्ध **इन्द्रागार** से जान पड़ता है। वर्तमान अर्थ कब, किस परिस्थिति में आया, कहा नहीं जा सकता।

हिन्दी **उतावला** का सम्बन्ध सं० **उत्ताप** से है, उतावला हुआ उत्ताप-वाला। उत्ताप का अर्थ सं० में गर्मी होता है, पर हिन्दी में उतावली का अर्थ कुछ जल्दबाजी, कुछ भावावेश आदि का होता है। अर्थ का आदेश किस प्रकार हुआ इसका अनु-

मान किया जा सकता है। गर्मी से पीड़ित जन को उस अवस्था से निकल भागने की जल्दी होती है, यदि उसी अवस्था में उसे रहना पड़े तो तकलीफ से भावावेश भी हो जाता है। उतावला, उतावली में ये दोनों अर्थ समाविष्ट हैं। हिं० **सताना** (सं० **सन्ताप**) में भी वही **तप्** धातु है, पर इसमें तपाने का अर्थ पीड़ा पहुँचाने तक ही बदलकर रह गया, उतावला में अनुभूत पीड़ा से आगे की अवस्था, उस पीड़ा से निकल भागने की मानसिक अवस्था का हो गया। सं० **उद्धार** शब्द का मूलरूप से खींचना, निकालना आदि अर्थ था। स्मृतियों में यही शब्द ज्येष्ठ भाई के उस दाय-भाग को भी जतलाता था जो वह अन्य भाइयों की अपेक्षा अधिक पाता था। किन्तु इसका वह अर्थ जो हिं० **उधार** का है संस्कृत में भी मिलता है। उधार का मतलब है जो रुपया-पैसा किसी से अस्थायी रूप से बिना सूद के ले लिया जाय और जिसकी कोई लिखापढ़ी भी न हो। **'उधार काढ़ना'** से **उद्-धृ**-धातु का मूल अर्थ संकेत में मिलता है। ऋण और उधार में इतना अन्तर है कि ऋण तो शायद आसानी से मिल जाय, क्योंकि उसमें रुपया देनेवाले को सूद का लालच रहता है, मगर उधार मुश्किल से मिलता है, उसे देनेवाले की गाँठ से दबाव डालकर या खुशामद करके निकालना पड़ता है।

संस्कृत में **उष्ट्र** शब्द का अर्थ ऋग्वेद में पहले भैंसा का मिलता है, बाद को ऊँट का। यह अर्थादेश किस कारण हुआ, कहा नहीं जा सकता। हिं० **ऐंठना** सकर्मक अकर्मक दोनों रूपों में घुमाने घूमने के अर्थ में आता है जो इसके सं० मूल रूप **आ-वेष्ट-** से हर तरह मेल खाता है। पर इसी का एक रूप बोलचाल की हिन्दी (**बाबूजी, आप बेकार ऐंठते हैं** आदि) में गुस्सा हो जाने

के अर्थ में आता है। यह अर्थादेश समझ में आता है। जब आदमी नाराज नहीं होता तब सीधे ढंग से बात करता है, लेकिन जब वह अप्रसन्न हो जाता है तब उसकी सिधाई समाप्त हो जाती है। जो अलंकार भाषा के सीधे और टेढ़े आदमी में मौजूद है वही ऐंठना शब्द के इस अर्थ में मिलता है।

ओझा शब्द **उपाध्याय** का विकसित रूप है जो विद्वान् ब्राह्मणों की पदवी का द्योतक है। आज भी संयुक्त प्रान्त, मिथिला तथा राजस्थान के कुछ कुलों में यह शब्द कुल नाम के रूप में व्यक्तियों के नाम के बाद जुड़ा मिलता है। **झा** शब्द भी इसी का रूपान्तर है। मगर पच्छिमी संयुक्त प्रान्त में **नाउत** और **ओझा** इन दोनों शब्दों का अर्थ झाड़ फूँक करने वाला होता है, ओझा जरा ऊँचा होता है, नाउत नीच कुल का। ओझा शब्द के इस अर्थादेश में यही कारण मालूम होता है कि ये उपाध्याय कुलवाले अन्य विद्याओं के साथ इस तन्त्र-विद्या का भी ज्ञान रखते थे और इसका विशेष प्रयोग करते थे। अन्य विद्याओं की अपेक्षा इसका अधिक प्रभाव और सम्पर्क जनता से पड़ता है। अवधी **ओढ़री** शब्द का अर्थ है, ऐसी स्त्री जिसके साथ विधिवत् विवाह न किया गया हो, ऐसे ही बिठला ली गई हो, डाल ली गई हो। इस शब्द का सम्बन्ध सं० **ऊढा** से है जिसका वही अर्थ है जो विवाहिता का। अवधी में **बिआही, बेही** शब्द व्याहता के लिए है, ओढ़रा घर में डाली हुई के लिए। कब **ऊढा** शब्द के अर्थ में यह हीनत्व को जतलाने वाला भाव आगया और अर्थादेश हो गया, कहा नहीं जा सकता। अवधी **ओसारा** शब्द का सम्बन्ध **अपसारः** से है जिसका अर्थ था मकान के पास खुली हुई जगह या निकास। मगर (बाद की संस्कृत और) अवधी में ओसारा का अर्थ है घर का ही एक भाग जो

भीतर घुसने के दर्वाजे के पहले पड़ता है, यह छोटा सा बरामदा होता है या पतला सा भीतर जाने का रास्ता। यहाँ स्पष्ट ही अर्थादेश है। हिं० **ओसाना** का अर्थ दाएँ माँड़े हुए अनाज को हवा में उड़ाना है इसलिए कि सारभाग भूसे से अलग हो जाय। इसका सम्बन्ध सं० **अवश्याय** (ओस) से है। यदि ओसाना का मतलब जमाना या ठंडा करना होता तो अवश्याय से निकटता मिलती। वर्तमान अर्थादेश विलक्षण है। अवधी **ओसरी** का सम्बन्ध सं० **अवसर** से है। अवसर उसी अर्थ में सं० में आता है जिसमें **अवकाश** या **मौका**। पर ओसरी का अर्थ है बारी (कल तुम्हारी ओसरी, आज हमारी)। यह अर्थादेश है।

हिं० **कड़ा** शब्द सं० **कटक** का रूपान्तर है और दो अर्थों में आता है, एक तो स्त्रियों के पैरों पर का जेवर, दूसरे बर्तनों में लगा हुआ गोलाकार पकड़ने का भाग। संस्कृत **कटक** उसी अर्थ में था जिसमें **वलय** और **कङ्कण**, अर्थात् कलाई पर पहनने का आभूषण। कलाई के आभूषण से पैर के आभूषण का कब और क्यों अर्थादेश हो गया, इसका पता नहीं। हिं० **कबड्डी** एक खेल का द्योतक है जिसमें खेलनेवाले दो दलों में बँट जाते हैं और फिर नियमित रूप से पकड़-धकड़ होती है। इस शब्द का सम्बन्ध **कपर्दिन्** (शिव जी) से मालूम होता है जो वर्तमान हिं० शब्द के अर्थ से बिलकुल सम्बन्ध नहीं रखता। ऐसा जान पड़ता है कि इस खेल का सूत्रपात शिवजी के गणों की खुरलीकलह (चाँद मारी) से हुआ होगा। ये गण इस कलह में कपर्दी को पुकारते होंगे जो आज भी डी-डी की पुकार से मालूम होता है। हिं० **कमाना** का सम्बन्ध कर्म की नामधातु **कर्मापयति** से है। कमाना का वर्तमान अर्थ धन पैदा करना है। यह अकर्मक है, अथवा रुपया पैसा ही इसका

कर्म है, एक, और रहके कमाता है, दूसरा चीज़ की। इस उपार्जन में आवश्यक रहा किये हैं। पर कमाना का एक लाक्षणिक रूप है जो हमें खेत कमाना, चमड़ा कमाना आदि प्रयोगों में मिलता है, जिसमें उपार्जन का भाव नहीं है बल्कि खेत या चमड़े को इस योग्य कर देना कि उससे उपार्जन, अच्छी प्राप्ति, हो सके। यह अर्थादेश रूप में के मूलरूप कर्मोपपत्ति से स्पष्ट है। हिं० कमानी शब्द फा० कमान (धनुष) से आया है जिसमें स्पष्ट ही अर्थादेश हो गया है। हिं० कहावत का सम्बन्ध सं० कथावार्ता (बातचीत) से है, मगर हिं० शब्द का अर्थ कथावार्ता के अर्थ से बिल्कुल भिन्न है और यहाँ अर्थादेश स्पष्ट है। सं० कुंडल शब्द कान की बाली का अर्थ रखता था, फिर शब्द इसका अर्थ कोई भी गोलाकार वस्तु हो गया। इसी से कुंडलिन् का अर्थ साँप हो गया क्योंकि जब यह बैठता है तो इसका शरीर कई एक गोल चक्करों में हो जाता है। हिं० कुंडली का अर्थ है 'जन्मपत्रिका' जो अर्थादेश तब हुआ होगा जब जन्म-पत्रिका लम्बे पत्र पर लिखी जाने लगी और वह पत्रिका लपेट कर रक्खी जा सकी।

नैपाली में खलक शब्द परिवार, कुटुम्ब का द्योतक है, और इसका अरबी मूलरूप खलक सारी दुनिया, सृष्टि का। कितना जबर्दस्त अर्थादेश हुआ है। हिं० खूँदना का सम्बन्ध सं० स्कन्दति से है जिसका अर्थ है कूदना उछलना। लेकिन हिन्दी शब्द का अर्थ है काटकर टुकड़े टुकड़े कर देना और नैपाली में इसी से सम्बद्ध खोँदनु शब्द का अर्थ है दबाना, निचोड़ना, मारना। हिं० में खाता शब्द का अर्थ है वह बही जिसमें अलग अलग व्यक्तियों, दूकानों आदि के नाम से देना पावना दर्ज रहता है। इस शब्द का सम्बन्ध सं० क्षत्रम् से है जिसका अर्थ

था शासन प्रबन्ध । दोनों अर्थों में काफ़ी भेद है। नैपाली में **खोजा** का अर्थ नपुंसक है, इस अर्थ की **ख्वाजा** के अर्थ से तुलना करिए, अथवा द्राविड़ **पिल्लइ** के अर्थ की हिं० **पिल्ला** से । अर्थादेश स्पष्ट है। हिं० **जलपान**, नाश्ता के अर्थ में आता है। **चाय** शब्द भी इसी अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है। जलपान के समय जल का पान आवश्यक नहीं और चाय में चाय नहीं भी हो तो गर्मी के दिनों में कोई टोकता नहीं। हिं० **मच्छड़** उसी अर्थ में आता है जिसमें सं० **मशक** और अवधी **मासा**। पर मच्छड़ का सम्बन्ध **मत्सर** से है जो मूल अर्थ का अनर्थ है । पालि **कंखा** का अर्थ शङ्का, सन्देह है और इसका सम्बन्ध सं० **कांक्षा** से है जिसका अर्थ है इच्छा, अभिलाषा। दोनों अर्थों में बहुत भेद है।

कालान्तर में कैसे अर्थादेश हो जाता है, इसके बहुतेरे उदाहरण वैदिक संस्कृत की परकालीन संस्कृत से तुलना करने पर मिलते हैं। **कवि** शब्द हिन्दी की तरह संस्कृत में भी कवयिता, पद्य रचयिता के अर्थ में आता है, पर वैदिक भाषा में इसका अर्थ था मेधावी (**कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः**)। **मृग** शब्द का अर्थ हिरन हो गया, पर वैदिक भाषा में इसका अर्थ था पशु (सामान्य) न कि कोई विशेष जानवर (**मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः**)। मौलिक अर्थ **मृगाधिप** (जानवरों का राजा—सिंह) में अब भी मौजूद है। वैदिक संस्कृत में **पशु** शब्द सभी जीवों का अर्थ बतलाता था, आज पशु का अर्थ मनुष्येतर जानवर, विशेषकर गाय, बैल, भैंस आदि ही है। **व्रत** उत्तरकालीन संस्कृत में विशेष नियम के लिए और हिन्दी में अधिकतर उपवास के लिए आता है, लेकिन वैदिक संस्कृत में यही शब्द कर्म और अन्न के अर्थ में

आता था। पतंजलि ने भी कहा है—**व्रतश्च नामाभ्यवहार्यार्थ-मुपादीयते**। इसी तरह **वसु** शब्द संस्कृत में धन का पर्यायवाची है मगर वैदिक संस्कृत में सभी आवश्यक सामग्री अन्न, वस्त्र आदि के लिए आता था। **अर्थ** शब्द का मतलब चाही हुई चीज मात्र था, जब उसका अर्थ धन हुआ तो निश्चय ही अर्थ-संकोच का उदाहरण प्रस्तुत हुआ। डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती ने ऊपर लिखे शब्दों में कालान्तर में एक ही भाषा में अर्थभेद के उदाहरण दिये हैं। अन्यत्र उन्होंने शबर भाष्य से उद्धरण देकर यह बताया है कि एक ही शब्द का एक समुदाय में एक अर्थ और दूसरे में दूसरा हो सकता है—

तत्र केचिद्दीर्घशूकेषु यवशब्दं प्रयुञ्जते, केचित् प्रियङ्गुषु। वराहशब्दं केचिच्छूकरे, केचित् कृष्णशकुनौ। वेतस् शब्दं केचि-द्वंजुलके, केचिज्जम्बाम्। तत्रोभयथा पदार्थावगमाद्विकल्पः।

यानी कुछ लोग **यव** को जौ, **वराह** को सुअर और **वेतस्** को बेंत के अर्थ में काम में लाते हैं तो अन्य लोग इन्हीं को क्रमशः बड़ी पीपल, कौआ और जामुन के अर्थ में। दोनों में कितना भेद है! संस्कृत में **यौवन** का अर्थ युवतियों का समूह और **सहायता** का सहायकों का समूह था, हिन्दी में दोनों शब्द क्रमशः जवानी और मदद (साहाय्य) के अर्थ में सीमित हो गए हैं।

धन्य शब्द का अर्थ मूलरूप से 'धन के योग्य' है और इसी का स्त्रीलिंगरूप **धन्या** है। पर हिन्दी के प्रयोग में 'धन्य' और 'धन्या' का सम्बन्ध धन से बिलकुल छूट गया है। अब धन्य का अर्थ है प्रशंसनीय और **धना** (∠ धन्या) का भाग्यवती लाड़ली स्त्री। काफ़ी मात्रा का अर्थादेश है।

ब्रील द्वारा निर्धारित ये तीन धाराएँ, विस्तार, संकोच और आदेश, अर्थ के विकास में सब भाषाओं में, दिखाई पड़ती हैं पर अर्थ का विकास एक समय किसी शब्द का विस्तार की धारा में है तो दूसरे समय संकोच में पड़ सकता है या आदेश में। **तैल** शब्द का जब 'तिल, का तेल' यह अर्थ निश्चित हुआ उस समय उस शब्द का अर्थसंकोच हुआ। नहीं तो तैल का मौलिक अर्थ था तिल सम्बन्धी और तिल की खली या उसकी भूसी का भी तिल से उतना ही सम्बन्ध है जितना तेल का। जिसकाल में उसका अर्थ तिल का तेल निश्चित हुआ, उस समय विचारधारा कुछ वैसी ही थी। जब तैल के अर्थ-का विस्तार हुआ, तब मूल विचारधारा भूल में पड़ गई थी। इसी तरह **सर्प, दशन** आदि सभी शब्दों के अर्थ के विकास में मूलरूप से संकोच दिखाई पड़ता है। निरुक्तकार यास्क ने प्रश्न किया था कि **तृ** (चुभना) धातु से बने **तृण** शब्द का अर्थ चुभनेवाला तिनका ही क्यों हुआ सूई या बर्छी क्यों नहीं? **स्थूण** का अर्थ खंभा ही क्यों हुआ? माना कि वह खड़ा रहता है (**स्था**—खड़ा होना) पर और बहुत सी चीजें भी तो खड़ी रहती हैं, वे क्यों स्थूण नहीं कहलातीं? ये प्रश्न हमें शब्दार्थ की सृष्टि के मूल की ओर ले जाते हैं। अगले व्याख्यान में इस पर विचार किया जायगा।

७. एकार्थता तथा अनेकार्थता

पिछले व्याख्यान के अन्त में सवाल उठा था कि **तृण** शब्द का अर्थ तिनका ही क्यों हुआ, चुभनेवाला अन्य कोई पदार्थ क्यों नहीं, अथवा **स्थूण** का अर्थ खंभा ही क्यों पड़ा, खड़ा होनेवाला अन्य कोई जीव या पदार्थ क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर विचार करने से मिल सकता है कि अर्थों से नाम कैसे पड़ते हैं।

हमारे दैनिक व्यवहार की भाषा में नाम (शब्द) प्रायः सभी प्रवाह से चले आए हैं। जितने भी विचार या भाव या इच्छाएँ हमारे मन में उपस्थित होती हैं, सभी के लिए पहले से शब्द मौजूद हैं। नए आए हुए व्यक्तियों, पदार्थों या क्रियाओं के लिए जो सामग्री हमारे पास पूर्व संचित है, उसी में से कोई न कोई नाम हम दे डालते हैं। ऊपर पाँचवें व्याख्यान में बताया गया है कि व्यक्तियों का नामकरण नाम रखनेवाले या वालों की तत्कालीन भावना से प्रेरित होता है, नवजात बालक का नाम चाहे **ईश्वरदत्त** रखिए, चाहे **देवीदयाल**, या **इब्राहीम** या **पीटर** या **कमाल** या **कमल**। व्यक्तियों के नामकरण में संभव है कि एक ही व्यक्ति के लिए कई नाम सुझाए जायँ और उनमें से एक चुन लिया जाय। बहुधा यह बात केवल प्रारंभिक अवस्था की ही होती है। यह भी संभव होता है कि कुछ समय तक कई नाम एक ही व्यक्ति के चलते रहें और बाद को उनमें से एक उसके साथ चिपक जाय। व्यक्तिवाचक नामों को छोड़कर अन्य

नाम जो किसी भाषा में आते हैं, उनका स्रष्टा कोई एक व्यक्ति होता है, जनसमूह नहीं। राजनीति, अर्थशास्त्र आदि में बहुत से काम समुदायों द्वारा होते हैं। किसी देश पर कब्ज़ा जनसमुदाय ही करता है, एक व्यक्ति नहीं, उद्योग-धन्धे व्यापार भी जन-समुदायों के द्वारा ही होते हैं, व्यक्तियों द्वारा नहीं। वहाँ सामूहिक शक्ति की अपेक्षा होती है, शब्द-सृष्टि में व्यक्ति की शक्ति ही काम करती है। **दियासलाई** जब इस देश में आई होगी, तब किसी एक व्यक्ति ही की प्रतिभा को भान हुआ होगा कि इसे **दियासलाई** कहा जाय। ऐसा नहीं हुआ होगा कि कोई जनसमूह बैठ गया हो और पंचायत की गई हो कि इस नए पदार्थ को क्या नाम दिया जाय। **तार** शब्द का भी प्रयोग करनेवाला आरंभ में कोई एक ही व्यक्ति रहा होगा। विदेशी भावों को व्यक्त करने के लिए जो विदेशी शब्द ही ले लिए जाते हैं, उनमें कोई सृष्टि का भाव नहीं होता। वह तो परम्परा से स्वयं आए हैं, यह दूसरी बात है कि परम्परा विदेशी है। **जलेबी, हलवा, गुलाब, टिकट, रेल, मास्टर** आदि शब्द हिन्दी भाषा में इसी तरह आए हैं। **लालटेन, गिलास, सिगल** आदि भी इसी क्रम से आए हैं, यह और बात है कि इनमें अपनी भाषा के प्रवाह के अनुकूल आवश्यक परिवर्तन कर लिए गए हैं।

नए भाव या विचार या तो अन्य जनों के सम्पर्क से किसी व्यक्ति के मन में आते हैं या परिस्थिति में नवीनता के कारण स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। ऊपर विदेशी सम्पर्क से आए हुए भावों को व्यक्त करने के दो मार्ग बताए गए हैं, या तो विदेशी शब्दों को ही स्वीकार कर लेना या उनके पर्यायवाची स्वदेशी

शब्द बना लेना। परिस्थिति की नवीनता में पूर्व संचित सामग्री के आधार पर या तो नए शब्द की सृष्टि हो जाती है या पुराने शब्दों में का ही कोई शब्द नए भाव को जतलाने के लिए काम में ले लिया जाता है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

संस्कृत में माता की बहिन के लिए **मातृष्वसा** और पिता की बहिन के लिए **पितृष्वसा** ये दो शब्द मौजूद मिलते हैं। ऐसा लगता हैं कि उस समय इन दोनों के पतियों के लिए अलग शब्दों की जरूरत नहीं थी। उल्लेख आवश्यक होने पर **मातृष्वसुः पतिः** (मौसी का पति) या **पितृष्वसुः पतिः** आदि कहा जाता होगा। प्राकृत काल में इनके लिए विशिष्ट शब्दों की सृष्टि हुई— **माउस्सिओ** (**माउच्छिओ**), **पिउस्सिओ** (**पिउच्छिओ**)। क्यों इन नए शब्दों को गढ़ने की जरूरत पड़ी यह सवाल दूसरा है। नैपाली भाषा में बिना ब्याही लड़की को **कन्या** कहते हैं, जो पहले से मौजूद है। उसी से ऐसे लड़के को जिसका ब्याह होने को हैं **कन्य** कहते हैं। यह नए शब्द की सृष्टि हैं। उसी भाषा में **खसम** (मालिक, पति) के आधार पर **खस्मिनि** (मालकिन) शब्द बना मिलता है। हिन्दी में देहात के रहनेवाले के लिए **देहाती** शब्द मौजूद था। अब शहर में रहनेवाले के लिए **शहराती** शब्द बोल-चाल में आ गया है और संभावना यही है कि शीघ्र ही मान्य हो जायगा। हिन्दी की संख्याओं में यदि किसी संख्या में आधा जोड़ते हैं तो **साढ़े** शब्द को काम में लाते हैं (यथा **साढ़े तीन, साढ़े पाँच** आदि)। यह शब्द **सार्ध-** का रूपान्तर है। लेकिन हिन्दी में **एक** या **दो** के साथ यह **साढ़े** नहीं जुड़ता, कोई **साढ़े एक,**

साढ़े दो नहीं कहता। बच्चे कहते हैं तो उन्हें ठीक बोलने का आदेश मिलता है, 'बेटा डेढ़ कहो **ढाई** या अढ़ाई कहो'। इन शब्दों की व्युत्पत्ति द्वि + अर्ध और अर्ध + तृतीय से समझी जाती है। एक और दो के साथ आधे का बोध कराने के लिए विशिष्ट शब्द की सृष्टि की क्यों जरूरत पड़ी? यह सवाल दूसरा है। संस्कृत में तो आज भी **सार्धमेकम् रूप्यकं मूल्यम्** इत्यादि वचनों में विशिष्ट पद का प्रयोग नहीं होता। पालि में **कथंकथा** शब्द है। किसी उपदेश को सुनते समय श्रोता के प्रश्न **कथं** के रूप में उठते हैं। इस भाव को प्रकट करने के लिए **कथंकथा** शब्द बन गया। पहले ही से मौजूद **संका, कंखा, पञ्हो** आदि शब्दों में इस भाव की अभिव्यक्ति नहीं हुई होगी तभी इस नए शब्द की सृष्टि हुई। संस्कृत के **इतिहास (इति ह आस** ऐसा ऐसा हुआ) शब्द की भी इसी तरह सृष्टि की गई। नैपाली में **ख-नाति** शब्द **प-नाति** (प्रनप्तृ) के पुत्र के अर्थ में मिलता है जो आर्य भाषाओं में नया है। हिन्दी में **पटाख़-साला** (साले का साला) और **खेल-वहिन** (बहनोई की बहिन) बोल चाल में पाए जाते हैं।

नए भाव या विचार का कौनसा अंश लेकर संकेत शब्द बनेगा इसके बारे में कोई भी कभी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। ऊपर **क्रिकिट** शब्द का उदाहरण दिया गया है। शहरों में आजकल चहारदीवारी पर एक काँटेवाली झाड़ी लगाई जाती है जिसका नाम **डुरंटा** है। इस अँगरेजी नाम के लिए हिन्दी शब्द **नील-काँटा** आता है। डुरंटा का काँटा नीला नहीं होता, फूल अवश्य नीला होता है। फिर उसके लिए **नीलकाँटा** नाम क्यों पड़ गया समझ में नहीं आता। संस्कृत का **समाचार** शब्द अच्छे आचार के अर्थ में पहले से हिन्दी में मौजूद था। इसका अर्थ खबर हो गया देखिए

समाचार मढ़ए के पाए।
जब लहकौरी भाँटा आए॥

अथवा अख़बार के लिए **समाचारपत्र**।

नए भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए पूर्व संचित शब्द-सामग्री के साथ साथ, सादृश्य शब्द सृष्टि में बड़ी मदद करता है। ऊपर बारूद से बने हुए खिलौनों (**साँप, छछुन्दर, अनार, चर्खी, गोला,** का उल्लेख हो चुका है। जब कोई कठिन परिश्रम करके बहुत थक जाता है तब कहता है **मैं चूर हो गया, पिस गया**। स्पष्ट ही इसमें अलंकार है पर वह सादृश्यमूलक है। हिन्दी **उफनना (उत्फणायते)** के मूल में भी सादृश्य की भावना है।

भाव की अभिव्यंजना में नए प्रयोगों के मूल में प्रायः नीचे लिखे कारण पाए जाते हैं।

१. **सम्पूर्ण के लिए एक भाग**—हिन्दी में हाथ शब्द न केवल हाथ के लिए वल्कि **बाँह** के लिए भी चल पड़ा है और इसी तरह **पाँव** पैर के लिए और पूरी **टाँग** के लिए भी। संस्कृत का **मुख** शब्द मुँह के लिए और साथ ही साथ उस सारे अंग के लिए जिसमें मुँह, आँख, कान, नाक सभी हैं, प्रयोग में आता है। **लाल कुर्ती** (रेडशर्ट), **गान्धी-टोपी** (कांग्रेसी) आदि इसी के उदाहरण है।

२. **आधार आधेय**—संस्कृत और प्राकृत में **दृष्टि** शब्द आँख और नज़र दोनों अर्थों में आता है। हिन्दी का **सवारी** शब्द सवारी और उसमें बैठे हुए मनुष्य दोनों के लिए जब जैसी जरूरत हो बोला जाता है। इसी तरह **बस्ती** शब्द निवासस्थानों और निवासियों दोनों के लिए आता है।

आदि शब्दों से कोई सम्बन्ध नहीं। उपन्यास शब्द का संस्कृत में अर्थ बिलकुल दूसरा है। हिन्दी उपन्यास के अर्थ में मराठी में **कादम्बरी** शब्द का प्रयोग है, जो स्पष्ट ही बाणभट्टकृत कादम्बरी कथा के आधार पर आया। कादम्बरी ग्रन्थ अंग्रेजी नावेल के ढँग का ही है। हिन्दी में **गल्प** शब्द बंगला से आकर कहानी के अर्थ में बहुत दिन चलता रहा, अब छूट गया है। हिन्दी में **नक्शा** शब्द मानचित्र के लिए आता है, इसका मौलिक अर्थ केवल 'खिंचा हुआ' है।

नए बनाए हुए शब्दों की परीक्षा से यह बात स्पष्ट होती है कि नव-शब्द-सृष्टि या नव-भाव-व्यक्तीकरण के लिए पूर्व संचित शब्दों के प्रयोग के मूल में यह बात है कि किसी विचार या भाव को व्यक्त करने के लिए ऐसा ध्वनिसमूह रख दिया जाता है जो या तो अभी तक उस भाषा में अभिव्यक्ति के लिए था नहीं या था तो दूसरे भावों या विचारों की अभिव्यक्ति के लिए आता था। यह नया ध्वनिसमूह या तो उधार लिया होता है, तद्रूप या कुछ संशोधित, या पूर्व से उपस्थित शब्द या उसमें कुछ अंश जोड़कर या घटाकर नया बना हुआ शब्द होता है। इस नए ध्वनिसमूह का प्रयोग प्रथम कोई व्यक्ति करता है और व्यंजक होने के कारण अन्य व्यक्ति भी उसे अपना लेते हैं। उस ध्वनिसमूह से उसी विशिष्ट भाव या विचार का समझ लेना या तो साक्षात् उपदेश के सम्प्रदाय से या इंगित से या प्रतिभा से ही होता है।

जिस प्रकार भाषा में नए भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए नए शब्दों की सृष्टि होती है उसी तरह अनावश्यक और त्यागे हुए भावों को जतलानेवाले शब्द भाषा से निकल जाते हैं।

वैदिक काल में अश्वमेध, वाजपेय आदि कितने ही यज्ञ होते थे, वे आज हिन्दी आदि प्रचलित आर्य भाषाओं से बिलकुल गायब हो गए हैं। कृच्छ्र, चान्द्रायण, सांतपन आदि कितने व्रत प्रचलित थे, वे सब चले गए। कितनी ओषधियों, बाजों, मिठाइयों, पकवानों के नामों का अब पता भी नहीं। देवी देवताओं के पुराने नाम मिट गए, नए चल पड़े। आज गणेश, शिव, चंडिका, संकटादेवी आदि को हिन्दी-संसार पहचानता है, उसको रुद्र, वरुण, उषस्, अश्विनीकुमारों की कोई जानकारी नहीं। सम्बन्धवाची पिता, माता, पितामह आदि जो शब्द हमें वैदिक साहित्य में मिलते हैं, उनसे कहीं अधिक संख्या में हमें लौकिक संस्कृत में और उनसे भी ज्यादा परकालीन साहित्य में मिलते हैं। शायद यह इसी कारण संभव हुआ होगा कि इस देश में सम्मिलित परिवार बराबर विस्तृत होता रहा। अब सम्मिलित परिवार के बिखरने के लक्षण दिखाई पड़ते हैं और संभावना है कि सौ दो सौ साल बाद की भाषा में बहुत से काका, ताऊ, सलहज आदि शब्द मिलें ही न। संस्कृत-साहित्य में देव, गाय, ब्राह्मण आदि उस समय के प्रचलित भावों के लिए बहुत से पर्यायवाची शब्द थे, वे प्रायः सब गायब हो गए हैं, एक-एक दो-दो बच रहे हैं। निश्चय ही देव आदि शब्दों द्वारा संकेतित अर्थों के साथ साथ, अलग-अलग गुणों का भी संकेत होता रहा होगा। कहा है—

> जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते।
> विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥
> ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।

संस्कार से **द्विज**, विद्या से **विप्र**, जन्म, संस्कार और विद्या तीनों से **श्रोत्रिय** तथा ब्रह्म जानने से **ब्राह्मण**। यह शब्दार्थ का सूक्ष्म भेद मिट गया। तुलसीदास की रामायण में **द्विज** और **विप्र** सर्वथा समान अर्थ में व्यवहार में मिलते हैं। आज की हिन्दी बोलचाल में तत्समरूप **ब्राह्मण** और तद्भवरूप **बाम्हन** पाए जाते हैं, अन्य सभी शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। **ब्राह्मण** शब्द ने धीरे-धीरे अन्य शब्दों का स्थान ग्रहण किया होगा और फिर उनको निकाल फेंका होगा। दूसरी ओर विद्या पढ़ने के आलयों के लिए कई शब्द हैं—

स्कूल, कालेज, पाठशाला, मकतब, मदर्सा, युनिवर्सिटी, और इन सब में अर्थ-भेद है। सारांश यह कि परिस्थिति के अनुसार भाषा में नए शब्द नए भावों को बताने के लिए आते रहते हैं और अनावश्यक पुराने, भाषा में से निकलते रहते हैं। यह बात बराबर होती रहती है, उसी प्रकार जैसे इस संसार में जन्म और मरण होता रहता है।

एक बात और देखी गई है। जो भाव या विचार भाषा में मौजूद है उसके भी पुराने शब्द मिट जाते हैं और नए उनकी जगह ले लेते हैं। घोड़े के लिए **अश्व, हय, वाजि, सप्ति, तुरग, तुरंगम** आदि बहुत से शब्द संस्कृत में थे, इनमें से कोई हिन्दी में नहीं रह गया, हिन्दी में दो शब्द व्यवहार में हैं, **घोड़ा** और **टट्टू**। बैल के लिए **अनड्वान्, वृषभ, बलीवर्द** आदि थे, हिन्दी में **बैल** मिलता है। **पुत्र** के लिए **बेटा** और **बालक बालिका** के स्थान पर **लड़का लड़की** प्रयोग में आते हैं। **दर्ज़ी, जुलाहे** के पुराने शब्द बिल्कुल गायब हो गए, यह नहीं कि वे पेशे ही पूर्वकाल में न थे। पालि में **तन्तुवाय**

और **पेसकार** (जुलाहा) और **तुन्नवाय** (दर्जी) शब्द मिले हैं। हमारी मिठाइयों और कपड़ों के नाम बिल्कुल नए ही रह गए हैं, पुराने एकान्त रूप से गायब। इसका क्या कारण है ?

विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि नई भाषाओं और नए जनसमुदायों के सम्पर्क में आने से नए शब्द भाषा में घुसते हैं। उन नए शब्दों में परिचित प्रत्यक्ष गुणों का भान होता है, पुराने शब्द संकेतमात्र रह जाते हैं। दूसरे नए जनसमुदाय यदि विजेता हुए तो वे अपनी चीजों, अपनी संस्थाओं का प्रवेश कराते हैं। प्रभुशक्ति से इन नए शब्दों में एक तरह की भद्रता और पुराने शब्दों में हीनता होती है। ऐसी परिस्थिति में नए शब्दों का पुरानों के स्थान में समावेश हो जाता है। यदि नए-पुराने दोनों शब्द रह गए तो अवश्य ही अर्थ-विभिन्नता मिलेगी। **पाठशाला** में संस्कृत नहीं तो हिन्दी अवश्य पढ़ाई जाती है, **मकतब** में अरबी-फारसी और **स्कूल** में अँगरेजी। अब स्वराज में छोटे स्कूलों में अँगरेजी नहीं पढ़ाई जायगी पर शब्द हिन्दी में रह जायगा।

निरुक्तकार ने जो प्रश्न उठाया था कि **तृण** का अर्थ **तिनका** ही क्यों और **स्थूण** का **खंभा** ही क्यों ? उसका जवाब यही है कि इन शब्दों का प्रथम व्यवहार करनेवाले के मन में वही अर्थ थे, वे अर्थ ही उन शब्दों के चल पड़े। तार्किक के ढँग से इस सवाल का उत्तर यही दिया जा सकता है कि यदि **तृण** और **स्थूण** का दूसरा अर्थ रहा होता तो भी प्रश्न उठ सकता था कि इनका अर्थ तिनका और खंभा क्यों नहीं हुआ ? स्वामी दयानन्द सरस्वती से किसी ने पूछा था कि वेद चार

क्यों हैं, तीन क्यों नहीं ? स्वामीजी ने उत्तर दिया था कि यदि तीन होते तो आप पूछते—तीन ही क्यों चार क्यों नहीं हैं ? निरुक्तकार के प्रश्न का भी क़रीब-क़रीब ऐसा ही जवाब है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि उन शब्दों के प्रथम प्रयोक्ता या स्रष्टा की प्रतिभा को उन ही अर्थों के लिए वे शब्द सूझे। ऊपर **तैल** शब्द के बारे में भी यही सवाल किया गया था कि उससे तिल के सार का ही अर्थ क्यों लिया गया, तिल के खोजड़ (खली) या तिल के पौधे या उसके फूल का अर्थ तैल शब्द से क्यों नहीं हुआ। यह सवाल भी निरुक्तकार के प्रश्न के समान है और इसका भी उत्तर वही है ; शब्द के प्रयोक्ता की प्रतिभा में वही अर्थ जगा। आज-कल शहरों में बिजली की रोशनी हो गई है और साधनों की सुलभता के अनुकूल यह दिन-दिन फैलेगी। रोशनी हमें बिजली के तार से सम्बद्ध एक चीज़ से मिलती है। इसे अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग **बल्ब** कहते हैं। पर हमारी हिन्दी जनता इसे **बलब** ही कह पाती है और अधिकतर **बत्ती** कहती है। हमारे मन में सवाल उठ सकता है कि इसे **बत्ती** क्यों कहा, **दिया** क्यों नहीं कहा ? यह गोलाकार होता है, इसके भीतर का तार बत्ती-सा झलकता है। दिया कहना ही इसलिए उपयुक्त होता। पर किया क्या जाय ? प्रयोग करनेवाले को **बत्ती** शब्द ही सूझा और यह चल पड़ा। यह भी संभव है कि किसी अन्य प्रदेश में **दिया** शब्द या अन्य कोई देशी शब्द बल्ब के लिए चल पड़े तो कालान्तर में हिन्दी के क्षेत्र में ही इस शब्द के सम्बन्ध में बोली-भेद मानना पड़ेगा। बत्ती की तरह ही **गिलास, अगिनबोट, पनडुब्बी, छुई-मुई, सूरजमुखी** (एक फूल) शब्दों की सृष्टि हुई होगी और ये सभी आज हिन्दी में प्रचलित हैं।

आज-कल राशन और कंट्रोल के जमाने में सरकारों की ओर से यह आदेश जारी है कि पच्चीस से अधिक अतिथियों को अन्न नहीं खिला सकते। धनीमानी सज्जनों को इससे बड़ी दिक्कत होती है, परिचितों में से किसे बुलाएँ, किसे न बुलाएँ। इसलिए ऐसी पार्टियाँ चल पड़ी हैं जिनमें राशन-नियमों द्वारा प्रतिषिद्ध खाद्य पदार्थों (पूड़ी, कचौड़ी, समोसा, दाल, भात, अन्न की मिठाई) का अभाव रक्खा जाता है। परोसे जाते हैं मेवे, फल, फलाहारी, मिठाई, आलू के चॉप, पेठा आदि और इस प्रकार सरकारी नियन्त्रण मानते हुए भी नियत संख्या से अधिक अतिथियों को बुला लिया जाता है। ऐसी पार्टी का नाम **एकादशी पार्टी** डाला गया है, जो भाव का द्योतक है, यद्यपि अक्षरशः ठीक नहीं क्योंकि इस पार्टी में दही, बड़े, मटर, चाय आदि पदार्थ भी होते हैं जो एकादशी के व्रत में निषिद्ध हैं। यदि यह नाम चल पड़ा तो अभिव्यक्ति तो हो ही जायगी।

प्रायः एक संकेतवाले शब्द **पर्यायवाची** कहलाते हैं। **देवः, त्रिदशः, अमरः, सुरः** एक ही संकेत के पर्याय हैं। **गौः, सुरभि; अघ्न्या** अथवा **कृमि, कीट** आदि भी एक संकेत के पर्याय हैं। इनको **एकार्थी** या **समानार्थी** भी कह सकते हैं। जैसा ऊपर कह चुके हैं इन शब्दों में कुछ न कुछ अर्थ का सूक्ष्म भेद रहता है। समय के फेर से इस भेद को साधारण जन भूल जाते हैं, और तब यही संभावना होती है कि एक संकेत के बहुत से पर्यायों का भाषा से लोप हो जाता है। इसी से बहुत से देवता-वाचक और गाय-वाचक शब्दों का अब हिन्दी में अस्तित्व ही नहीं है।

जो पर्यायवाची एक ही भाषा में मिलते हैं, उनमें या तो अर्थ की पूर्ण समानता रहती है या आंशिक। हिन्दी में **भीरु डरपोक,**

शीत सरदी, नियम क़ायदा, नेरे निकट नज़दीक, नगर शहर, गाँव ग्राम, मेज़ टेबुल, अख़बार समाचारपत्र इन शब्द-युगलों में अर्थ की पूर्ण समानता है, तथा **कुली मज़दूर, स्कूल पाठशाला मकतब, दौड़ना भागना, कृपा दया, प्रीति प्रेम, सिंह बाघ** में आंशिक। संस्कृत के **मन्यु क्रोध** तथा अँगरेज़ी के **प्रोफ़ेसर रीडर लेक्चरर** में भी आंशिक समानता है।

पर्यायवाची शब्दों का उद्गम बोलियों और भाषाओं के संमिश्रण से होता है। भाषाविज्ञों का निश्चित कथन है कि किसी भी सुसंगठित बोली में एक अर्थ को जतलाने के लिए एक ही शब्द होता है। जब एक ही अर्थ के लिए अनेक शब्द मिलें तो बोली-भेद समझना चाहिए। ऊपर जो उदाहरण पर्यायवाचियों के दिए गए हैं, उनमें स्पष्ट ही बोली-भेद है। संस्कृति-भेद से भी एक ही जनसमूह में एक ही संकेत के लिए कई शब्द हो सकते हैं। **माँ** के लिए **अम्मी, मम्मी, माँ, अम्माँ** ; **पिता** के लिए **अब्बा, बप्पा, पापा, डैडी** ; **ईश्वर** के लिए **परमेश्वर, अल्लाह, ख़ुदा** आज के हिन्दी भाषी सभ्य समाज में उपस्थित हैं।

सुसंगठित बोली में जब एक ही अर्थ के लिए कई पर्याय रह जाते हैं तो उनमें या तो पहले से ही अर्थ का आंशिक भेद रहता है या पैदा हो जाता है। नीचे के उदाहरण देखिए—

दिया, चिराग़, ढिबरी, लैम्प, दीवालगीर, लालटेन।
बिल, बाँबी, माँद ।
बाल, केश ।
जल, पानी ।
मंडी, बाज़ार, मार्केट ।
खाना, भच्छना, जीमना ।

पत्ती, दल।
नाव, जहाज़, डोंगी।
घोप, घोखना।
जटा, जड़।
दूध, खीर।
तू, तुम, आप।
जनना, वियाना।
गर्भिणी, गाभिन।
शकर, खाँड, चीनी, बूरा।

एक ही भाषा में संस्कृति के अनुसार समुदाय होते हैं। उनमें अलग-अलग शब्द एक ही भाव को जतलाने के लिए हो सकते हैं—

बैठिए, तशरीफ़ रखिए।
आइए, पधारिए।
वयं गच्छामः, वयं साधयामः।

एक ही स्रोत से आए हुए किसी भाषा के एक ही शब्द के दो रूप दो परस्पर थोड़े या अधिक भिन्न अर्थों में पाए जाते हैं। इनमें से एक उस बोली का निजी होता है और अन्य दूसरी बोलियों से आते हैं।

पचना, पकना।
परचना, परकना।
दक्खिन, दाहना।
पान, पन्ना।
जीव, जी।
वंश, बाँस।

पत्र, पत्ता।

विभूति भभूत।

दंड, डाँड़, डंडा, डाँड़ा।

बट्टी (साबुन की), बटी (चूरन की), बड़ी बरी (दाल की),

आलू, अरुवा, बाटी (आटा की)।

सबब, असबाब।

बेकार, बेगार।

भंडार, भंडारा।

घड़ी, घरिया, घरी (२४ मिनट) अवधी में।

गोष्ठी, गोठ, गोट (पिकनिक)।

आर्द्री (अदरक), ओदी (तरी)।

कंकाल, कंगाल।

कातना, काटना।

(पालि) अत्थो, अट्टो।

कुंड, कूंड़ा।

कुँवर, कुँवार।

कोख, कोंछ।

चीर, खीर।

रंडी, राँड़।

खेप, खेवा।

कंगन (विवाह सूत्र), ककना।

आर्यभाषाओं में पुंलिंग और स्त्रीलिंग का भेद डालकर अर्थ में परिमाण आदि का भेद डाला गया है।

कीला, कील, कीली।

कांटा, कांटी।

कठौता, कठौती।
पत्ता, पत्ती।
खूँटा, खूँटी।
कलसा, कलसिया।
लोटा, लुटिया।
गगरा, गगरी।

अन्तिम उदाहरण में न केवल परिमाण का अर्थभेद है बल्कि अवधी में **गगरा** ताँबे पीतल आदि धातु का होता है और **गगरी** मिट्टी की। नीचे के उदाहरणों में लिंगभेद के कारण अर्थ में मौलिक अन्तर मिलता है—

कोठा, कोठी।
छाता, छाती।
पत्री, पत्रा।
अरुआ, अरुई।
अँगूठा, अँगूठी।
घड़ा, घड़ी।
करवा (करवा चौथ वाला), करई।
काढ़ा, कढ़ी।
छन्ना, छन्नी।

ओढ़ना ओढ़नी में परिमाण का अन्तर चाहे हो चाहे न हो, पर **ओढ़नी** स्त्रियाँ ही ओढ़ती हैं और **ओढ़ना** स्त्री पुरुष दोनों।

एक ही शब्द के अर्थ में बोली-भेद से थोड़ा बहुत अन्तर भाषाओं में मिलता है। हिन्दी में **साग** शब्द का दो अर्थों में व्यवहार है, एक तो पालक, सरसों आदि पत्तियों वाला ही,

दूसरा इनके अतिरिक्त गोभी, आलू, मटर सभी के लिए। वैश्यों के यहाँ विशेषरूप से दूसरा अर्थ प्रचलित है, कायस्थों के यहाँ पहला। कायस्थों के यहाँ दूसरे के लिए सब्ज़ी या तरकारी शब्द का प्रयोग है। वैश्यों के यहाँ तरकारी शब्द का चलन इसलिए नहीं क्योंकि इससे आमिष भोजन का संकेत होता है। **चकत्ती** हिन्दी में कपड़े के बहुत छोटे से टुकड़े को कहते हैं जो या तो पैवन्द के रूप में लगती है या छोटे २ घावों या फोड़ों पर मरहम लगाकर चिपकाई जाती है लेकिन नैपाली में इसी शब्द का अर्थ छोटी गद्दी का होता है। **औगुनी** का अर्थ अवधी में शरारती का, पर नैपाली में अकृतज्ञ का होता है। **उटंग** (७ उत्तुंग) अवधी में उसे लहँगा, कुरता आदि का बोध कराता है जो उचित से थोड़ा ऊँचा होता है, पर यही शब्द (**उट्टंग**) नैपाली में विदूषक, मसखरा का संकेत करता है। **काँख** का अर्थ अवधी में बग़ल, पर नैपाली में कमरवाले हिस्से के लिए होता है। हिन्दी में **खानगी** घरेलू के अर्थ में लेकिन नैपाली में पद, वेतन के लिए आता है।

एक ही बोली में जब एक स्रोत से आए हुए कई रूप एक ही शब्द के मिलते हैं, तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव, तब यह भिन्न २ परिस्थितियों के कारण ही होता है। अवधी के अर्ध-तत्सम रूप **पंचिमी, सप्तिमी, अष्टिमी,** पंचांग की तिथियों के द्योतक हैं और तद्भवरूप **पँचई, सतई, अठई** मुहर्रम की तारीखों के। हिन्दी में **बटी** वैद्यकवाली और **बड़ी** घर गिरिस्ती में **मुँगौड़ी मेथौरी** की द्योतक हैं। **चूरन** (वैद्यक) और **चूना** का उल्लेख पीछे हो चुका है।

ब्राह्मण–बाम्हन, कायस्थ–कायथ, गर्भिणी-गाभिन, आदि

शब्दों के प्रयोग को देखकर इतना निश्चय है कि तत्सम शब्द अधिक शिष्ट और आदर-सूचक होता है। पर जो निजत्व तद्भव शब्द में मिलता है वह तत्सम में नहीं। **बालम** और **प्यारी** में जो रस घुला मिलता है वह **वल्लभ** और **प्रिया** में नहीं। **दूल्हा** शब्द में कुछ निकटता ऐसी मिलती है जो **वर** में नहीं पाई जाती।

तत्सम रूप का एक अर्थ है तो तद्भव या अर्धतत्सम का बिल्कुल दूसरा हो सकता है। देखिए—

ध्वनि	धुन
ध्वजा	धज

कभी-कभी विदेशी शब्द अधिक आदर के द्योतक होते हैं। **थवई** और **भंगी** के मुक़ाबले में क्रमशः **राज** और **मेहतर** को देखिए, और **नाई हज्जाम** से **बार्बर** की तुलना कीजिए।

अर्थ-भेद लाने के लिए ध्वनि-समूह में कुछ विकार कर दिया जाता है, आरंभ, मध्य या अन्त में। इस प्रकार वस्तुतः दूसरे शब्द की ही सिद्धि हो जाती है। देखिए—

समर्थ	असमर्थ
हार	आहार, प्रहार, संहार
तुलना	तोलना
पुत्र	पौत्र
गेंद	गेंदा (फूल)
सिर	सिरा (छोर)
आँग (शरीर)	आँगा (अँगरखा)
खूँट (कान का मैल)	खूँटा
भोज (ब्रह्मभोज)	भोजन
बतास	बतासा

पर्यायवाची दो शब्दों को साथ-साथ लाने से भृशत्व का अधिक अर्थ मालूम होता है, जैसे **काला-स्याह, लाल-सुर्ख, सपेद-उज्जर**।

अनेकार्थी शब्द दो प्रकार के होते हैं, एक तो ऐसे जो आरंभ में एकार्थी थे पर अनेक प्रसंगों में, भाषा के प्रवाह के कारण, इस्तेमाल होने से अनेकार्थी हो गए, और दूसरे ऐसे जो भिन्न शब्द थे पर ध्वनिविकास के कारण एक शब्द मालूम पड़ते हैं। **आसन** का अर्थ वह चटाई, कपड़ा आदि भी है जिस पर बैठते हैं और बैठने का ढंग **पद्मासन, कुक्कुटासन, सुखासन** आदि भी है। **उतारना** नदी पार कराना, ऊपर से उठाकर नीचे रखना, सिर के ऊपर कुछ पैसे या टुटका आदि घुमाना सभी है। **जलना** शारीरिक और मानसिक दोनों हो सकता है। **चाल** गति और तर्कीब दोनों की द्योतक है। **तार** लोहे का भी होता है और सन्देश भी जो उस तार पर भेजा जाता है। **जाल** मछली पकड़ने के लिए भी और धोका देने के लिए भी होता है। भाषा में इस तरह के सैकड़ों शब्द मिलते हैं। दूसरी ओर **तिया** (त्रिक, स्त्री), **जुआ** (द्यूत, युग), **साइत** (शायद, मुहूर्त), **पीर** (पीड़ा, सोमवार), **काज** (कार्य और बटन के लिए छेद), **काँसा** (कांस्य, काश), **कसरत** (व्यायाम, बहुतायत), **नागा** (एक तरह का साधू, खराब, अनुपस्थिति), **काम** (मदन, कर्म), **कल** (मशीन, आराम) आदि शब्द हैं। यदि व्याकरण के भिन्न पदों को भी शामिल करें तो और ज्यादा शब्द मिलेंगे। **जाना** (जा धातु से और मालूम किया), **गया** (स्थान का नाम और जा का भूतकाल), **पर** (पंख, लेकिन), **तारा** (सितारा और तार दिया) उदाहरण हैं।

व्याकरण भाषा को नियम-बद्ध करती है पर पूरे तौर से नहीं कर पाती। संस्कृत में ही कर्म और सम्बन्ध तथा अधिकरण के

प्रयोगों में अनेकार्थता मौजूद थी जो उसी तरह हिन्दी आदि वर्तमान भाषाओं में भी उतर आई है। कर्म के कई भेद हैं। नीचे लिखे उदाहरण देखिये—

घड़ा बनाता है, बात बनाता है; गाय दुहता है, गाय चराता है।

से पर सर्ग के अनेकार्थी ये प्रयोग देखिये—

लाठी से मारा, हाथ से खाया, मकान से लगा पेड़, पेड़ से पत्ता गिरा, मुझसे अच्छा आदमी।

का के ये उदाहरण परखिये—

राजा का मकान, राजा का शासन, इस देश का शासन सोने का ज़ेवर, जल का देवता, कालिदास का ग्रन्थ, राजा का भाई।

में के प्रयोग देखिये—

तिल में तेल, घर में स्त्री, मुझमें कमी।

पर के ये उदाहरण हैं।—

मुझ पर विपत्ति गिरी, अटारी पर पलँग है।

इतना परिमाणवाची भी है और संख्यावाची भी, जैसे, **इतना पानी, इतने लड़के।** इसी प्रकार **जितना, उतना, कितना** के भी प्रयोग हैं।

शब्द की अनेकार्थता प्रसंग की अनेकता से आती है। प्रसंग की अनेकता का कारण सुविधा, अलंकार, विभिन्न भाषाओं का सम्मिश्रण आदि कई तरह का होता है। सुविधा के लिये **डा० सक्सेना** कहने से एक ही डा० सक्सेना का संकेत तभी होगा जब एक का ही उल्लेख या उपस्थिति है। पर जब **डा० बाबूराम सक्सेना, डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना, डा० रामकुमार सक्सेना** आदि कई होंगे तो भ्रम की संभावना होगी। **सम्मेलन** से प्रादेशिक या अखिल भारतीय दो में से कौन, इसका विवरण

शब्दमात्र से नहीं मिलता। प्रसंग ही निर्धारण करेगा। इस तरह प्रसंग की अनेकता से अनेकार्थता आती है और उसी से अर्थ का निश्चय और नियन्त्रण भी होता है।

अगले व्याख्यान में अर्थ का अलंकार से क्या सम्बन्ध है और परस्पर क्या प्रभाव है इस बात पर विचार किया जायगा।

---

८ अर्थ और अलंकार

भाषा की प्रकृति में ही कुछ ऐसी बात है कि वह वक्ता के सम्पूर्ण मनोभावों को श्रोता पर व्यक्त नहीं कर पाती। इसीलिए उसे अन्य साधनों के साथ साथ इंगित का भी सहारा लेना पड़ता है। आकृति और इंगित से भी पूर्णता नहीं आ पाती। प्रचलित प्रयोगों के निरन्तर उपयोग से उनमें कुछ ऐसी अक्षमता आ जाती है कि उनसे मनोभाव की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती और मनुष्य नए प्रयोगों का अवलम्बन करने लगता है। यदि भाषा में भाव की अभिव्यक्ति की पूरी क्षमता होती तो भ्रान्ति या ग़लतफ़हमी की कोई गुंजाइश न होती।

भाषा की अपूर्णता को दूर करने में मुख्य सहायक अलंकार होता है। मनुष्य की प्राचीन से प्राचीन उक्तियों का विश्लेषण किया जाय तो वहाँ भी अलंकार के उदाहरण मिलेंगे। ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों में भी सुन्दर अलंकारों के प्रयोग हैं। दूसरी ओर गँवार से गँवार अनपढ़ जनता के वाक्यों को परखा जाय तो उनमें भी अलंकारों के प्रयोग पाए जायँगे। जब ओले-पानी से फ़सल खराब जाती है, तब किसान रुपए में एक दो आने के नुक़सान को सारी फ़सल के नष्ट हो जाने का रूप दे डालता है। "सरकार **अब की तौ हम बिलाइ गएन। अन्न क एकउ दाना नाई बाकी बचा।**" कितनी जोरदार अतिशयोक्ति है यह। और जब देहाती छैला उमंग में गाता हुआ किसी छबीली के विषय में कहता है —

मुश्किल पड़ रहा है तब वह **बनाना** का प्रयोग खरीदकर लाने और पहनाने के अर्थ में करती हैं।

ऊपर पाँचवें व्याख्यान में यह बताया गया है कि गुण का ध्यान आते ही गुणी का भी ध्यान हो आता है और इसलिए गुणवाचक शब्द गुणी का वाचक हो जाता है। **सफ़ेदी** शब्द का अर्थ चूना और **बुढ़ापा** का बुड्ढा आदमी गुण के ध्यान से सम्बद्ध गुणी के ध्यान के कारण ही हुआ है। इसी प्रकार विशेषणवाची शब्द किसी विशिष्ट विशेष्य के बोधक हो जाते हैं। **इष्ट** का अर्थ अनुकूल, अभिप्रेत था, इसी से **पंडित जी को हनुमान् जी का इष्ट है** इत्यादि प्रयोगों में **इष्ट** विशेषण से संज्ञा हो गया। इसी तरह **कपिसा** से एक विशेष पीली मिट्टी, **सलिल** से बहनेवाला पानी और फिर पानी, **रोहू** से रोहित रंग की मछली और **सुर्खी** से लाल रंग के कारण ईंटों का चूना और शीर्षक (क्योंकि यह लाल रोशनाई से लिखा जाता था) होगया। पार्वती का नाम उनके गौर वर्ण के कारण **गौरी** पड़ गया और हिन्दी का **गोरी** किसी भी नागरी युवती के लिए प्रयोग में आता है चाहे वह रंग में गोरी हो चाहे न हो। भाषा में इस प्रकार भाववाचक शब्दों के द्रव्यवाचक हो जाने के बहुत उदाहरण मिलते हैं। पाँचवें व्याख्यान में कुछ उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट की गई है। संस्कृत के **आहार** (खाने की वस्तु) **उपहार** (उपहार के लिए दी गई वस्तु), **सन्तान** (वंशको बढ़ाने वाला) और हिन्दी का **भेंट** (भेंट में दी हुई वस्तु) इसी तरह के शब्द हैं।

संस्कृत में प्रारंभ में उपसर्ग स्वतन्त्र शब्द थे और वाक्य में इनकी स्थिति कहीं (क्रिया पद से दूर) भी हो सकती थी।

धीरे-धीरे ये क्रिया के साथ जुड़ने लगे और इनकी सत्ता गौण हो गई। तब भी ये धातु के अर्थ में घोर परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं। वैयाकरण कहते हैं—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।

प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥

अर्थात् उपसर्ग के कारण धातु का अर्थ कहीं से कहीं पहुँच जाता है, जैसे (हृ ले जाना धातु से) **प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार**। सभी एक धातु के शब्द होते हुए भी उपसर्गों के कारण भिन्न भिन्न अर्थों के द्योतक हैं। अवश्य ही यह भेद पद-विकास के कारण हुआ, पर इस विकास में बोलचाल के मुहाविरे का प्रभाव पड़ा है।

उपसर्गों की तरह समास के शब्दों में अर्थ-भेद भी बोलचाल से पड़ता है **राजपुत्र, राजमार्ग, राजमहल** में **राज-** का समान अर्थ नहीं है। राजमार्ग चौड़े प्रशस्त मार्ग को कहते हैं न तो यही कि केवल राजा ही उस मार्ग पर चलता है, अन्य कोई नहीं और न यह कि राजा का उससे कोई सम्बन्ध है। राजपुत्र और राजमहल इन शब्दों में राजा से सम्बन्ध है। **खटकिरवा** और **खटमल** दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है पर एक का शाब्दिक अर्थ है खाट का कीड़ा, और दूसरे का खाट का मैल। बहुव्रीहि समास मुहाविरों से ही अन्यार्थ-बोधक बने होंगे, नहीं तो **पीताम्बर** से पीला कपड़ा पहननेवाला, **पञ्चगुः** से पाँच गायोंवाला, इन अर्थों का बोध न होता।

हिन्दी की संयुक्त क्रियाओं से भी अर्थ-भेद की बड़ी बारीकी प्रकट होती है, जो केवल मुहाविरे पर निर्भर है। **खा लिया,**

खाडाला, खागया, खाचला, खाचुका, खाहुआ आदि में प्रधान क्रिया **खाना** अपना अर्थ अक्षुण्ण रखती है, पर साथ ही साथ सहायक क्रियाएँ भिन्न-भिन्न बातों का बोध कराती हैं, ऐसी बारीक बातों का जिनको हिन्दी भाषा-भाषी ही पूर्णरूप से समझ पाता है, दूसरा नहीं। इनका यथार्थ अनुवाद भी नहीं हो सकता। विदेशी **'वह आ गया'** इस वाक्य को या **'वह देखो आ मरा'** इस वाक्य को सुनकर अचरज में पड़ जाता है और **आना जाना** दो परस्पर विरोधी क्रियाओं के संयुक्त प्रयोग को समझ नहीं पाता।

ऊपर पाँचवें व्याख्यान में यह बताया गया है कि हमारा ज्ञान स्थूल पदार्थों का अनुभव करके सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। स्थूल पदार्थों के तौलने के उपरान्त हम बात भी तौलने लगे और मीठे कड़वे पदार्थों के अनुभव के उपरान्त ही हम मीठी कड़वी बात परख सके। इस प्रकार के प्रयोग भी बोलचाल से निकलते हैं और मुहाविरे बन जाते हैं! गठरी-मुठरी बाँधकर मनुष्य मनसूबे बाँधता है। कड़वी दवा पीकर गुस्सा पी जाता है। मनुष्य हवा भी खाता है और धूप भी, चाहे वह आमिष-भोजी हो या निरामिष-भोजी। किसी नौजवान की मौत के बाद घर में अँधेरा छा जाता है और सन्तान-विहीन दम्पती के घर में पुत्रोत्पत्ति से उजाला हो जाता है। तेली का बैल दिन भर आँख पर पट्टी बँधवाए चक्कर काटता है, उसी तरह सबेरे से शामतक पेट के धन्धे में व्यस्त साहित्य-संगीत-कला-विहीन कर्मकर भी तेली का बैल कहलाता है। मुँह बन्द हो जाने पर आदमी बोल नहीं सकता। इसी लिए जब शास्त्रार्थ में किसी अकाट्य तर्क से विपक्षी को चुप कर दिया जाता है तब कहते हैं कि उसका मुँह बन्द कर दिया, यद्यपि सच पूछिए तो विपक्षी का मुँह वास्तव में बन्द नहीं किया गया। भीख मांगने के

लिए भिखारी हाथ फैलाता है और हम उस पर पैसा टका रख देते हैं। इसी से भिक्षा मांगने के लिए **हाथ फैलाना** यह मुहाविरा चल पड़ा। जीव चलते हैं और उन्हीं की तरह निर्जीव गाड़ी, इंजिन आदि चलते हैं (यद्यपि वे स्वतः नहीं चलते, जीवों द्वारा चलाए जाते हैं)। पर मुहाविरे को इतने से ही सन्तोष नहीं होता। काम सरकता है और चलता है, यद्यपि वास्तव में न कोई काम को देख पाता है न उसके सरकने और चलने को।

मुहाविरे के मूल में पदार्थ की हेयता और लक्षणा अथवा व्यंजना से बताए हुए अर्थ की प्रधानता रहती है। संस्कृत में **महा**—बड़े के अर्थ में आता है, जैसे **महात्मा, महापुरुष, महाराज**। पर इसी शब्द को **महाब्राह्मण** और **महामांस** में देखिए। दोनों में अभिधावाला अर्थ तिरस्कृत है और लक्षित प्रधान। **महाब्राह्मण** नितान्तगर्हित ब्राह्मण है जो मरघट पर का भी दान स्वीकार करता है, **महामांस** नितान्त तिरस्कृत मांस है जो कोई मनुष्य नहीं खा सकता। ये अर्थ क्यों और कैसे आए यह दूसरा ही प्रश्न है। **देवानां प्रियः** का अर्थ संस्कृत में मूर्ख होता है जो अभिधा के अर्थ के विपरीत है। **देवर** शब्द का निरुक्त के अनुसार अर्थ था द्वितीय वर, फिर इसी का अर्थ हुआ पति का भाई और अब है पति का छोटा भाई। यह अर्थ-भेद मुहाविरे के कारण ही संभव हुआ।

इतिहास, पुराण आदि से भी शब्दों के अभिहित अर्थ से भिन्न मुहाविरेवाले अर्थ का बोध होता है। **लम्बोदर** से गणेश, **मृगलांछन** से चन्द्रमा, **मकरकेतु** से कामदेव, **महिषमर्दिनी** से दुर्गा **सूर्यतनया** से यमुना, **नवरत्न** से कालिदास आदि या बीरबल आदि का बोध हमें तत्सम्बन्धी इतिहास या पुराण की कथा से ही होता है, नहीं तो उनका वास्तविक अर्थ दूसरा ही था।

रीति रवाज, संस्कार भी शब्दों के अर्थ का बोध कराते हैं। **तिलांजलि** मृतक को दी जाती है और इसी से जिस पदार्थ से पिंड छुड़ाना होता है उसे तिलांजलि दी जाती है, यद्यपि यहाँ न तिल हैं, न अंजलि और न दान। **तीन तेरह, बारह बाट** भी इसी तरह के प्रयोग हैं। **द्विरेफ** का अर्थ, **भ्रमर** शब्द को जानकर ही समझा जा सकता है।

साहित्य में संख्यावाचक शब्दों से संख्या को प्रकट न करके संख्यात पदार्थों के उल्लेख से ज़तलाने की चाल है। **वेद, पुराण, रस, ऋषि, वसु, ग्रह, दिशा, रुद्र, आदित्य** से क्रमशः ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२ का बोध होता है। आकाश शून्य का बोधक है। संख्याओं का इस प्रकार का बोध जहाँ चमत्कार पैदा करता है, वहाँ जनसाधारण से किसी गोप्य वस्तु का दुराव भी करता है। शुक्ल जी अपना मकान बनवा रहे थे, उनसे पूछा कि कितना खर्च होगा। बोले, इंजिनियर कहते हैं कि वेद लग जायँगे, हद से हद रस। जब मकान बन चुका तब खीज कर बोले, ये इंजिनियर लोग भी बड़े धोकेबाज़ होते हैं, रुद्रों पर बन आई! **निन्यानबे का फेर** धन-संग्रह की प्रवृत्ति का द्योतक है। किसी के धन-संग्रह की थाह लेता हुआ आदमी कहता है कि रुपया नहीं तो अठन्नी तो जरूर ज़मा हो गई होगी। स्पष्ट ही यहाँ वास्तविक एक रुपया या एक अठन्नी का मतलब नहीं है बल्कि एक लाख या आधे लाख का अभिप्राय है। ये सारे प्रयोग मुहाविरे पर निर्भर हैं और यह मुहाविरा व्यक्ति-विशेष से उठकर, विशिष्ट समाज में प्रचलित होता है और तब जन-साधारण में आता है।

प्रचलन से ही रंगों को विशिष्ट अर्थ मिले हैं। कीर्ति और यश धवल होते हैं और इनमें दोष आने से ये मलिन होते हैं। राग

और अनुराग प्रेम के द्योतक हैं। गेरुआ रंग त्याग और साधुत्व का द्योतक है। लाल रंग क्रोध को भी जतलाता है। ये विशिष्ट भाषा के मुहाविरे हैं। अपने यहाँ पीला रंग सात्विक समझा जाता है, यूरोप में काला रंग सूतक का चिह्न है। भारत में विधवाएँ प्रायः रंगीन वस्त्र नहीं पहनतीं।

भारतीय समाज में अपने गुरुजनों, आचार्य, पति का नामोच्चारण निषिद्ध है। कहीं कहीं ज्येष्ठ पुत्र का भी नाम नहीं लिया जाता। अंगरेजों के यहाँ पत्नी पति का नाम बेबाकी से लेती है, वहाँ इसे बुरा नहीं समझते। अवध के ग्रामों में रात को बच्चे का नाम नहीं लेते, विशेषकर जब उल्लू बोल रहा हो। अन्ध-विश्वास यह है कि यदि उल्लू बच्चे का नाम सुनेगा तो उसी को रटेगा और तब बच्चे की अकाल मृत्यु अवश्यंभावी है। इस प्रकार की रहस्यवादिता प्रचलन से समाज में स्थिर हो जाती है और फिर भाषा का अंग बन जाती है। इसी पर ईरानी में आँख आदि मनुष्य के अंगों के लिए दो दो शब्द हैं, एक अच्छा दूसरा बुरा। भाषा की रहस्यात्मकता प्रचलन से ही उत्पन्न होती है। कोई बच्चा बीमार पड़ा हो और रात को उसका नाम लिया गया और काकतालीय न्याय से उल्लू उसी समय बोल उठा। फिर कालान्तर में बीमारी के ही कारण बच्चे का देहान्त हो गया तो बच्चे के देहान्त के साथ उल्लू के बोलने का सम्बन्ध जुड़ गया और यह विश्वास का अंग बन गया। गुरुजनों के नाम के उच्चारण से अनादर का भाव प्रकट होता है, इसी धारणा के कारण उनका नाम नहीं लिया जाता। पति और ज्येष्ठ पुत्र के नामोच्चारण से अनिष्ट की आशंका होती है।

ऊपर पाँचवें व्याख्यान में बताया गया है कि अशुभ और असभ्य बातों का साक्षात् उल्लेख न कर के गोलमोल शब्दों में किया

जाता है। यह बात भी मुहाविरे और अलंकार पर निर्भर है। इस प्रकार का कथन किसी व्यक्ति द्वारा अकस्मात् होता है और ये आकस्मिक नाम चिपक जाते हैं। गदहे को **वैशाखनन्दन** अलंकार-रूप ही कहा गया होगा। दैनिक प्रातः कालीन विशिष्ट क्रिया को **शौच** और किसी धूर्त को **हज़रत** इसी तरह कहा गया होगा।

प्रतिद्वन्द्वी पार्टी, धर्म आदि के द्योतक शब्दों में थोड़े अपमान और अवहेलना की ध्वनि चिपक जाती है। सनातनधर्मी के मुख से **आर्या, समाजी,** आर्यसमाजी के मुख से **पौराणिक,** कांग्रेसी के मुख से **कम्यूनिस्ट** और **लीगी** तथा वैदिक मतावलम्बी के मुख से **पाखंडी** इसी ध्वनि की सूचना देते हैं। राष्ट्रीय भावनावाले के मुख से **माडरेट** शब्द के प्रयोग से इतने अपमान की सूचना मिलती थी कि माडरेट दलवालों को अपना नाम माडरेट से **लिबरल** बदल लेना ही श्रेयस्कर जान पड़ा।

मुहाविरों का प्रारम्भ प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ के समावेश से होता है और फिर यह भिन्न अर्थ ही उस पद या पदसमूह का मुख्य अर्थ हो जाता है। **देवदासी** देवताओं की सेवा के लिए अर्पित कन्याओं का नाम था। धीरे २ ये उन देवकुलों के पुरोहितों की सेवा करने लगीं और फिर हर तरह की सेवा। **देवदासी** का अब वही अर्थ है जो **मंगल मुखी** या **वारवधू** का। **गूजर, अहीर, ग्वाल** ये जातिवाचक शब्द हैं पर इनके दूध दही का काम करने के कारण, इनसे दूध बेचने वाले का बोध होता है, तभी तो कवि ने कहा है—

अहिरिनि मन की गहिरिनि उतरु न देइ।
नयना करैं मथनिया मनु मथि लेइ॥

मुहाविरों से एक कदम और आगे कहावतें हैं। इनमें पदार्थ

नितान्त तिरस्कृत रहता है, वाक्यार्थ भी गौण रहता है। उदाहरण के लिए **अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता** इस कहावत में **चना, भाड़, फोड़ना** इन सबका कोई अर्थ नहीं। जब किसी बहुजनसाध्य कार्य के लिए किसी एक आदमी को नियुक्त करने की बात होती है तब यह कहावत प्रयोग में आती है। **दमड़ी की हाँड़ी गई, कुत्ते की ज़ात पहचानी गई** इस कहावत का प्रयोग मनुष्य, किसी विश्वासघाती व्यक्ति के विषय में करता है। **धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का** उस व्यक्ति के विषय में है जो कभी इस पक्ष में जाता है, कभी उसमें और किसी में भी आश्रय नहीं पाता, न विश्वास-पात्र बनता है। **काठ की हाँड़ी बारबार नहीं चढ़ती** इस में व्यंजना है कि बार-बार धोका नहीं दिया जा सकता। **चोर की दाढ़ी में तिनका,** इस कहावत का प्रयोग तब होता है जब अपराधी अपने आप ही कोई ऐसी बात कह दे जिससे उस पर किए गए सन्देह की पुष्टि हो जाय। **कहाँ राजा भोज कहाँ गंगुआ तेली** में दो ऐसे व्यक्तियों की तुलना है जिनके ऐश्वर्य आदि के स्तर में महान अन्तर है। यहाँ गंगुआ तेली से तात्पर्य गांगेय तैलप नरेश से है, यह हिन्दी-भाषी जनता भूल गई है और किसी विशेष तेली का अभिप्राय समझती है। **जब तक साँसा तबतक आसा** इस कहावत से जबतक किसी चीज में जरा भी जान होती है तबतक उद्योग करते रहने का भाव है। **ऊँची दूकान फीका पकवान** से दिखावा अधिक और वास्तविकता कम इस बात का बोध होता है। **सूप बोले तो बोले चलनी क्या बोले जिसमें बहत्तर छेद** इस में बहुदोष-युक्त व्यक्ति की दूसरे से तुलना है। **ऊँट किस करवट बैठता है** में समस्या क्या परिवर्तन पाती है इस बात का निर्देश

है । **अक़ल बड़ी कि भैंस** में बुद्धि के सर्वोपरि महत्त्व का संकेत है । संभावना है कि इस कहावत का शब्द था **बैस** (आयु) और बुद्धि के महत्त्व का आयु के ऊपर वैशिष्ट्य दिखाया गया था । पर कालान्तर में **वयस** का **भैंस** हो गया ।

इन थोड़ी सी कहावतों का उल्लेख करके इस बात का उदाहरण दिया गया है कि कहावतों में अभिधेय अर्थ नितान्त तिरस्कृत रहता है ।

प्रथम व्याख्यान में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करते हुए यह बताया गया है कि शब्द और अर्थ का कोई समवाय सम्बन्ध नहीं है । अमुक शब्द का अमुक ही अर्थ होगा, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । इस दृष्टि से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं समझा जाता । तब भी किसी विशिष्ट भाषा में सीमित दृष्टि से देखने से अर्थ और शब्द का सम्बन्ध जान पड़ता है । इस विषय में अनुकरणवाले शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, यथा **बिलबिलाना, मनमनाना, चिपचिपाना, टर्राना, गनगनाना, भसकना, सटकना, टरकना, सरसराना, सनसनाना** । इन सब शब्दों में किसी विशेष क्रिया से जो ध्वनि निकलती है उसी पर ये शब्द बन गए हैं । इन शब्दों के विषय में यह स्पष्ट कह सकते हैं कि ध्वनि से अर्थ का आभास मिलता है । इसी तरह गाय का **रँभाना,** घोड़े का **हिनहिनाना,** ऊँट का **बलबलाना,** बकरी का **मिमियाना** ये शब्द ध्वनि से ही अर्थ जतलाते हैं । बिल्ली के लिए **म्याऊँ,** कोयल के लिए **कूकू,** मोटर साइकिल के लिए **फटफटिया,** मोटर के लिए **पोंपों,** ये सारे शब्द बच्चों की भाषा में आए हैं और भाषा में भी प्रवेश पा रहे हैं । ये भी ध्वनि से ही अर्थ जतलाते हैं ।

हिन्दी भाषा में स्त्रीलिंगवाले शब्दों से लघुता, निर्बलता का भास मिलता है, यथा **कटोरी** छोटी होती है और **कटोरा** बड़ा, **छुरी** छोटी होती है और **छुरा** बड़ा, **लोटी (लुटिया)** छोटी होती है **लोटा** बड़ा। इसी तरह **थाली, डिब्बी, तख़्ती,** आदि हैं। अपेक्षा-दृष्टि से पुंलिङ्ग शब्द बड़े का द्योतक होता है और स्त्रीलिंग छोटे का। यह बात कतिपय अन्य आर्य भाषाओं में भी लागू है। पर यह बात सभी भाषाओं पर लागू नहीं है।

अवधी में संज्ञाओं के दीर्घीकृत रूप हैं, यथा **लरिका,** से **लरिकवा, सुआ** से **सुअना, छगरी** से **छगरिया**। किस मानसिक परिस्थिति में इन रूपों का उद्भव हुआ है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर इतना तय है कि अवधी भाषाभाषी को इन दीर्घीकृत रूपों को बोलने से कुछ सुख मिलता है, जिस प्रकार लम्बे शब्दों के संक्षिप्त रूप बोलने से सामान्यरूप से सुख मिलता है।

ध्वनियों से अर्थ का थोड़ा बहुत आभास भाषाओं में मिल जाता है, यह इसी से प्रकट है कि साहित्यशास्त्र में कुछ ध्वनियाँ माधुर्य-सूचक मानी गई हैं और कुछ ओज-सूचक। भवभूति के नीचे लिखे पद्य में पहले भाग में माधुर्य है जो रति का द्योतक है और दूसरे में ओज है जो क्रोध की सूचना देता है—

यथेन्द्रावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम, कलहकामः पुनरयम्।
झणत्कारक्रूरक्वणित गुणगुंजद्गुरुधनु—
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालोल्वणरसः॥

इसी प्रकार नहि मुनिरिव नरपतिरुपशमरतिः में आलो-

चकों का कहना है कि ह्रस्व स्वरों की परम्परा से शमभाव ध्वनियों से ही प्रकट हो जाता है।

किसी विशेष भाषा के शब्दों का अध्ययन करके इस प्रकार नितान्त सीमित रूप से कह सकते हैं कि कहाँ तक उक्त भाषा की ध्वनि-विशेष से अर्थ-विशेष की सूचना मिलती है। 'ध्वनि नित्य अर्थ की संकेतिका है' इस वाद में तथ्य बहुत सीमित और अल्प है।

इन आठ व्याख्यानों में अर्थविज्ञान पर सामान्यदृष्टि से विचार किया गया है। यथासंभव हिन्दी भाषा और उसकी बोलियों के उदाहरण देकर विषय को सामान्यजन के लिए सुबोध बनाने का प्रयत्न किया गया है। अर्थविज्ञान पर अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करने के लिए अधिक समय की अपेक्षा है। सम्पूर्ण रूप से इस विषय पर अन्तिम शब्द कहना असंभव है। यह सरस्वती वाणी असीम तथा अनन्त है। इसी लिए दुर्गस्वामी ने कहा था—

अहं च भाष्यकारश्च कुशाग्रैकधियावुभौ।
नैव शब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये लघुबुद्धयः॥

मैं तो अन्यतम लघुबुद्धि हूँ—कम से कम भाष्यकार पतंजलि, दुर्गस्वामी आदि के सामने। मैं तो केवल इतना जानता हूँ—

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥ ऋ. १।१२।६.

इति शम्

अन्यवाद
अपतिता,-तया
अपना
अपा
अब्बा
अमरः
अम्मां
अम्मी
अरसा
अराति
अरुआ
अरुई
अरुवा
अर्चिः
अर्जुन
अर्थ
अर्थविज्ञान
अर्थाना
अर्थाचव
अर्धतृतीय
अर्धाङ्ग
अलक्षण
अलाप
अलोपीदीन
अल्लाह
अवकाश
अवसर
अवसारः
अवश्याय
अविगोष्ठम्
अशंखचक्रोहरिः
अश्व,-मेध
अश्विनीकुमार
असबाब
असमर्थ
असुर
अस्ति
अहीर

आ

आँख
—का अन्धा
—जुड़ाती है
आँग
आँगा
आँच
आँचर
आँचल
आँव
आइए
आकाश
आकाश पुष्प
आकृति
आखरा
आख्यान
आघ्रा-
आचमन
आचाम्-
आजा
आजी
आड़
आदृत
आद्यत्व
आत्मन्
आत्मा
आदम,-ी
आदर्श
आदित्य
आदी
आना
आप
आफ़िस
आबरू
आम
आरसी
आर्तः

नाई
नाउन
नाक,—छिनकना
—साफ़ करना
नाग
नागा
नाना
नायक
नाव
नावेल
नाश्ता
निकट
निन्यानवे का फेर
नियम
निर्बल की बाँह
निशिचित्रभानुः
नीचैः
नीलकांटा
नेत्र
मेरे

प

पँचई
पँचकौड़ी
पंचगुः
पंचानन
पंडितानी
पंडित जी
पकना
पक्ष,—ी
पचना
पञ्छी
पटाक साला
पण्णाकार
पतंग
पतलादूध
पति
पत्तन
पत्ता
पत्ती
पत्र, —ा
पत्री
पदार्थ
पद्मासन
पधारिये
पन
पनचक्की
पनडुब्बी
पनाति
पन्ना, पन्ने
पर
परकटा कौआ
परखना
परचना
परमेश्वर
परशु,—राम
परश्वः
परसों, परहों, परौं
परिहार
पर्वत की कटि
पशु
पाँव
पाकिस्तान
पाखंडी
पाखाना
पाठशाला
पातुवोदयितामुखम्
पादंकुरु
पान
पानी
पापा
पिउच्छिओ
पिउस्सिओ
पिता
पितामह
पितृष्वसा